भारतीय राष्ट्रवाद और डॉ0 भीमराव अम्बेडकर
एक विवेचनात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी

के

समाज विज्ञान संकाय

में

राजनीति विज्ञान विषय

के अन्तर्गत

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2008
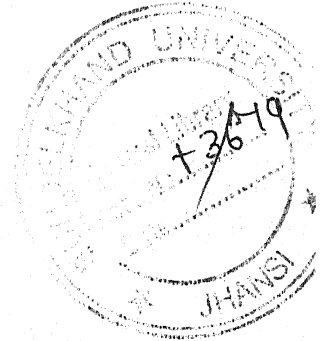
निर्देशक

डॉ. देवेन्द्र नारायण सिंह

गवेषक

शिवकुमार गुप्ता

राजनीति विज्ञान शोध-केन्द्र

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

हमीरपुर (उ0प्र0)

BABASAHEB AMBEDKAR

डॉ0 देवेन्द्र नारायण सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग

मोबाइल नं0 9415170203
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हमीरपुर (उ0प्र0)

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री शिवकुमार गुप्ता राजनीति विज्ञान विषय में पी–एच0 डी0 उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी के पंत्राक संख्या बु0 वि0/ए के/शोध/2004/529–31 दिनांक 08–10–04 के द्वारा पंजीकृत हुए थे। इनके शोध का शीर्षक था ''भारतीय राष्ट्रवाद और डॉ0 भीमराव अम्बेडकर : एक विवेचनात्मक अध्ययन''। श्री गुप्ता मेरे निर्देशन में आर्डीनेन्स, 6 द्वारा वांक्षित अवधि तक शोध केन्द्र में उपस्थित रहे। इन्होंने शोध के सभी चरणों को अत्यन्त सन्तोषजनक रुप में परिश्रम पूर्वक सम्पन्न किया है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को राजनीति विज्ञान विषय में पी– एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।
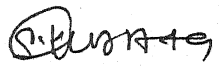
दिनांक : 08/04/08

डॉ0 देवेन्द्र नारायण सिंह
शोध निर्देशक

घोषणा

मैं घोषणा करता हूँ कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान विषय में पी–एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ''भारतीय राष्ट्रवाद और डॉ0 भीमराव अम्बेडकर: एक विवेचनात्मक अध्ययन ''मेरा मौलिक कार्य है। मेरे अभिज्ञान से प्रस्तुत शोध का अल्पांश अथवा पूर्णाश किसी भी विश्व विद्यालय में पी–एच0 डी0 अथवा अन्य किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

शिवकुमार गुप्ता
शोधार्थी

दिनांक
08/04/08

आभार

आभार अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मात्र औपचारिकता नहीं। शोध जैसे दुरूह कार्य के प्रति जिन व्यक्तियों व संस्थाओं से सहयोग सन्मार्ग मिला उनकी स्मृति बरबस ही मानस पटल पर उमड़ती रहती है। यह श्रृंखला कहां से प्रारम्भ करूँ, इस विषय में कोई दुविधा अथवा अनिश्चय की स्थिति है ही नहीं। जिस समाज व संस्कृति में ***"गुरू और गोविन्द"*** में से गुरू की प्रथम अभ्यर्थना, प्रार्थना की परम्परा रही हो वहां इस प्रकार की दुविधा हो ही नहीं सकती। मेरे इस गवेषणा को पूर्ण करवाने में जो मार्ग दर्शन व प्रेरणा मुझे अपने शोध निर्देशक आदरणीय डॉ० देवेन्द्र नारायण सिंह, रीडर राजनीति विज्ञान, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर से प्राप्त हुई, उसके लिए शब्दों में आभार व्यक्त करना मात्र शब्द जाल बुनना प्रतीत होता है। वास्तव में उनके सहयोग के बिना शोध-विधा का यह दुरूह लक्ष्य प्राप्त कर पाना सम्भव ही नहीं था। यह उनका प्रेरणाप्रद निर्देशन और उनके सद्प्रयास थे जिनके चलते मैं यह लक्ष्य प्राप्त कर सका। इसके लिए मैं जीवन भर पितातुल्य डॉ० डी० एन० सिंह का ऋणी रहूंगा।

डॉ० रमेशचन्द्र, पूर्व प्राचार्य राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर (सम्प्रति संयुक्त शिक्षा निदेशक, उच्च शिक्षा, उ०प्र०) के प्रति विनयावत् हूं, जिन्होंने समस-समय पर मेरा मार्ग निर्देशन किया। महाविद्यालय के वर्तमान प्राचार्य डॉ० प्रमोद कुमार के प्रति आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने पहले राजनीति विज्ञान विभाग के विभागाध्यक्ष के रूप में और फिर प्राचार्य के रूप में मेरे शोध

कार्य में अमूल्य सहयोग प्रदान किया। इसी क्रम में राजीनीति विभाग में रीडर डॉ भवानीदीन को मैं कैसे विस्मृत कर सकता हूं जिन्होंने समय-समय पर मेरा पथ प्रदर्शन किया।

डॉ० स्वामी प्रसाद विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र ने इस समूचे शोध कार्य के दौरान मुझे बहुमूल्य शोध सामग्री उपलब्ध करायी ओर सुझाव दिये। उन्होंने इस लक्ष्य के पथ को पार करने के लिए जिन ज्योतिर्बिन्दुओं के दर्शन कराये उसके लिए आभार व्यक्त करना किंचित सागर की प्यास बुझाने के लिए जल सिंचन जैसा होगा।

वात्सल्यमयी सहयोग के लिए महाविद्यालय के प्राध्यापकों डॉ० बलराम, रीडर भूगोल, डॉ० जे०पी० विश्वकर्मा, विभागाध्यक्ष भूगोल, डॉ० रामनाथ, विभागाध्यक्ष अर्थशास्त्र, डॉ० योगेन्द्र अर्थशास्त्र विभाग के प्रति श्रद्धावनत् हूं जिन्होंने निराशा के घोप-घटा के बीच आशा के ज्योतिर्पुन्ज के दर्शन कराये। इस शोध कार्य को पूर्ण करने के सन्दर्भ में जिन संस्थानों व उनके ग्रन्थालयों से अपरिमित सहयोग मिला उन्हें भुलाया नहीं जा सकता, इस क्रम में मैं बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान संस्थान, महू, म०प्र० के निदेशक व समस्त स्टाफ, डॉ० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ के पुस्तकालय अध्यक्ष एवं समस्त स्टाफ के प्रति आभारी हूं जिन्होंने मेरे इस शोध यज्ञ में अपने सहयोग अमूल्य आहूति भेंट की। राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर की प्रभारी पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीमती सुधा पाठक ने मेरे प्रज्ञा पथ को जिस प्रकार सहज बनाया उसके लिए उनके प्रति आभार ज्ञापित करता हूं। राजकीय पुस्तकालय

हमीरपुर के जिला पुस्तकालय अध्यक्ष श्री एन्ड्रयूज ने इस विषय पर पर्याप्त सहयोग व सामग्री प्रदान की जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

अपने स्थानीय मौदहा में निजी रूप से जुड़े जिन शुभ चिन्तकों से मुझे इस महती कार्य को पूर्ण करने में प्रेरणा व सहयोग मिला उन्हें जीवन भर नहीं भुलाया जा सकता है। डॉ० घनश्याम मिश्र प्रवक्ता समाज शास्त्र राजकीय महाविद्यालय मौदहा (सम्प्रति प्रवक्ता राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर), डॉ० अली मोहम्मद प्रवक्ता हिन्दी विभाग राजकीय महाविद्यालय, मौदहा से समय-समय परदिशा निर्देश मिलते रहे। इसके लिए मैं जीवन पर्यन्त ऋणी रहूंगा। मेरे शुभ चिन्तक एवं मार्गदर्शक डॉ० अशोक कुमार गुप्ता (चिकित्सक) मौदहा, श्री आशाराम अहिरवार प्रबन्धक डॉ० भीमराव अम्बेडकर विद्यालय मौदहा व श्री मइयादीन बाबू जी, नलकूप विभाग ने मुझे न केवल डॉ० अम्बेडकर से जुड़े तथ्य सामग्री उपलब्ध कराया बल्कि बहुमूल्य सुझाव व सहयोग भी प्रदान किया इसके लिए मैं इन महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं।

श्री आनंद जी पूर्व विधायक मौदहा व प्रबंधक, नेशनल इण्टर कालेज मौदहा, जो इस क्षेत्र में शिक्षा के भीष्म पितामह कहे जाते हैं, उनके ओज पूर्ण प्रेरक व्यक्तित्व ने मेरे इस शोधरूपी पौध को सिंचित पोषित किया, व श्री परसुराम श्रीवास पूर्व प्राचार्य, नेशनल इण्टर कालेज मौदहा, श्री कृष्ण कुमार व्यास प्रवक्ता नेशनल इण्टर कालेज मौदहा का भी मैं सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूं।

हर क्षण ममतामयी आशीष की छांव प्रदान करने वाली मेरी माता श्रीमती

शान्ती देवी गुप्ता व हर पल मुझे सुख आशीष प्रदान करने वाले मेरे पिता श्री सुखनन्दनलाल गुप्त के सपनों को साकार करने के पथ पर चला जो इनके आशीर्वाद के अभाव में यह शोध यज्ञ पूर्ण ही नहीं हो सकता था। जिनका आशीर्वाद मुझे हर पल मिलता रहा जिनको मैं शत-शत् नमन करता हूं। साथ ही मैं ब्रम्हलीन शिवपूजन गुप्ता एवं ममतामयी बड़ी भाभी श्रीमती मीना गुप्ता, (अनुदेशिका, आई०टी०आई० कानपुर) व अग्रज श्री शिवशंकर गुप्ता स्नेहिल छोटी भाभी राधिका गुप्ता के प्रति सदेव नतशीष रहूंगा, जिनकी वात्सल्यमय छवि ने इस दुरूह पथ को पार करने में साकारात्मक भूमिका प्रस्तुत की।

मेरी जीवन संगिनी हृदयांशिका अमिता गुप्ता, चि० अनुज, प्रान्जल, दीक्षा, सौम्या एवं उज्जवल गुप्ता को मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूं जिन्होंने मेरे इस कटु पथ को पूरा करने में आविस्मरणीय योगदान प्रदान किया।

मेरे प्रिय मित्र विनय कुमार सिंह, नरेद्र कुमार एवं ऊषा जी का भी मै सदैव अभारी रहूंगा जिन्होंने समय-समय पर इस पथ के लिए प्रेरित किया।

अन्त में शोध प्रबंध के मुद्रक, चन्द्रलोक कम्प्यूटर ग्राफिक्स के प्रो० मेरे मित्र शिवकरन जी व रूप सज्जा एवं आवरण सज्जा कार्य हेतु अहमद बाइंडिंग कानपुर बधाई के पात्र है जिनके अथक योगदान से यह अभीष्ट कार्य पूर्ण हुआ। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी जाने अनजाने सुधी जनों का भी हृदय से आभारी हूं जिन्होंने इस पथ को सहज बनाया।

(शिवकुमार गुप्ता)
गवेषक

दिनांक :
08/04/08

अनुक्रम

अध्याय – 1

प्रस्तावना

- भूमिका
- संघर्ष के सहचर–डॉ0 भीमराव अम्बेडकर
- डॉ0 अम्बेडकर– एक परिचय
- गोलमेल सम्मेलन में सहभागिता
- संविधान निर्माण में महती भूमिका
- अध्ययन पद्धति
- डॉ0 भीमराव अम्बेडकर की महत्वपूर्ण कृतियां एवं शोध पत्र

प्रस्तावना

भूमिका

मानव सभ्यता का विकास मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से प्रेरित मानव विवेक का प्रतिफल है। मानव व्यक्तित्व के विकास एवं आत्मनिर्भर, उन्नत जीवन की प्राप्ति के लिये विविध संस्थाओं, संसाधनों, संगठनों की खोज, निर्माण अथवा विकास करता है। मनुष्य का राजनीतिक रूप से संगठित होना भी इसी स्थिति का परिचायक है। मनुष्य परिवार के जिस संस्था से संगठित होना प्रारम्भ करता है वह गांव, नगर राज्य, राज्य से होता हुआ राष्ट्र की अवधारणा तक विकसित होता है और यही संगठन की प्रवृत्ति "विश्व राज्य' का भी आधार बनती है। यद्यपि आज का विश्व अन्तर्राष्ट्रीयवाद की धारणा को महत्व देता है किन्तु आज भी सभी देशों मे राष्ट्रवाद की अवधारणा ही मौलिक रूप से स्वीकार की जा रही है।

राष्ट्रवाद का साधारण सा अर्थ है, राष्ट्र को आधार मानकर चिन्तन और क्रिया करना। जब किसी देश के निवासी अपने देश की भूमि और उससे सम्बधित सांस्कृतिक तथ्यों को सर्वश्रेष्ठ मानकर अथवा उनके प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए अपने विचारों, भावनाओं और क्रियाओं का समन्वय करते है तो वे राष्ट्रवादी कहे जाते है। इस प्रकार के राष्ट्रवादी व्यवहार को प्रेरित करके वाली भावनात्मक शक्ति को राष्ट्रवाद कहा जाता है। सरल शब्दों में कहा जाय तो अपने राष्ट्र के प्रति असीम प्रेम व श्रद्धा ही राष्ट्रवाद का आधार है।

किसी भी देश में राष्ट्रवाद की अवधारणा राष्ट्रीय एकता का आधार होती है और यही राष्ट्रीय एकता राष्ट्रीय शक्ति की प्रबल स्रोत होती है और राष्ट्रीय शक्ति राष्ट्रीय विकास, सुख, समृद्धि और आत्म–निर्भरता का वाहक होती है। यही कारण है कि राष्ट्र के मनीषियों, चिन्तकों और नेतृत्व द्वारा राष्ट्रवाद की धारणा को सुदृढ़

करने के लिये समय–समय पर प्रेरक विचार व दिशा निर्देश दिये जाते रहे हैं।

जहां तक भारत का प्रश्न है, अपनी विविधताओं भरी संस्कृति के कारण भारत पाश्चात्य राष्ट्रवाद की अवधारणा की कसौटी पर खरा नही उतरता। वास्तव में राष्ट्र और राष्ट्रवाद की पाश्चात्य अवधारणा भौतिक तथा बाह्य समानताओं पर आधारित है, जिसमें उन्होंने नस्ल, धर्म, भाषा और सांस्कृतिक एकता के मानक निर्धारित करते हुए इनके आधार पर राष्ट्रों की पहचान सुनिश्चित करने का प्रयास किया है। इन्हीं आधारों पर भारत को राष्ट्रों का एक राज्य माना जाता रहा है। जिन्ना का द्विराष्ट्रवाद इसी आक्षेप की परिणति माना जा सकता है।

वस्तुतः भारतीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का आधार भौतिक समानतायें हो ही नही सकती फिर भी भारत एक राष्ट्र है, इस बात से इनकार भी नहीं किया जा सकता। डॉ0 अम्बेडकर ने इस तथ्य को अपने विशिष्ट बौद्धिक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि केवल भाषा, धर्म, जाति अथवा भौगोलिक एकता को ही राष्ट्र का आधार नही माना जा सकता। अनेक देश एक ही भाषा–भाषी हैं किन्तु एक राष्ट्र नहीं हैं। इसके विपरीत स्विट्जरलैण्ड में मुख्य रूप से चार भाषायें बोली जाती हैं फिर भी वह एक राष्ट्र है। एक ही धर्मावलम्बी होने के बावजूद पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान एक राष्ट्र के रूप में आबद्ध न हो सकें। बांगलादेश का निर्माण जिन्ना के द्विराष्ट्रवाद का उपहास है। एक ही जाति धर्म व नस्ल के अरब राष्ट्रों में उस भावनात्मक एकता की अनुभूति कहीं परिलक्षित नहीं होती, जो राष्ट्रीय चेतना का आधार होती है।

इन सबके विपरीत विविधताओं से परिपूर्ण भारत निश्चय ही एक राष्ट्र था, जिसकी अभिव्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हो चुकी है, एक राष्ट्र और एक सशक्त राष्ट्रीय चेतना की ओर अग्रसर है। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार इस

राष्ट्रीय चेतना का आधार भावनात्मक एवं अध्यात्मिक एकता है। राष्ट्र एक जीवन्त आत्मा है, एक अमूर्त तत्व है। इसे बाह्य समानताओं का जामा नहीं पहनाया जा सकता ।

डॉ० अम्बेडकर का नवबौद्ध आन्दोलन वास्तव में भारत की इसी आत्मा की खोज में उठाया गया एक सार्थक कदम था जिसका मूल उद्‌देश्य जाति एवं धर्म की कटुता तथा वैमनस्यता समाप्त करते हुये एक ऐसे समरुप समाज की स्थापना करना था जिसकी आत्मा एक हो और शरीर भी एक हो क्योंकि अध्यात्मिक और भावनात्मक एकता के आधार के होते हुये भी जाति और धर्म भारत की राष्ट्रीय चेतना को चोटिल करने का प्रयास करते रहे हैं। इस आन्दोलन के माध्यम से राष्ट्र और राष्ट्रवाद के इन कंटकों का समूल नाश किया जा सकता है। यह बात डॉ० अम्बेडकर के इस कथन से स्पष्टतः प्रतिध्वनित होती है, "मुझे यह अच्छा नही लगता जब कुछ लोग कहते है कि हम पहले भारतीय है और फिर हिन्दू तथा मुसलमान, मुझे यह भी स्वीकार नही है कि धर्म, संस्कृति, भाषा तथा राज्य की निष्ठा से ऊपर है—भारतीय होने की निष्ठा। मैं चाहता हूं कि लोग पहले भी भारतीय हो और अंत तक भारतीय ही रहें, भारतीय के आलावा कुछ नहीं"[1] क्या नव बौद्व आन्दोलन इस भावनात्मक अभिव्यक्ति और सद्इच्छा का माध्यम नहीं बन सकता? प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इसी प्रश्न को विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

संघर्ष के सहज सहचर- डॉ० भीमराव अम्बेडकर

भारत रत्न से सम्मानित डॉ० भीमराव अम्बेडकर का सम्पूर्ण जीवन दमन शोषण एवं अन्याय के विरूद्ध अनवरत संघर्ष की शौर्य गाथा है। इस भारत देश की यह परम्परा रही है। कि हर स्थान पर महापुरूषों को सम्मान मिला है। भारत वर्ष

1. नैमिशराय, मोहनदास व अकेला ए0 आर0, (उद्धृत) बाबा साहब ने कहा था, आनन्द साहित्य सदन, अलीगढ पृ0 25

की धरती पर भगवान राम और कृष्ण जैसे अवतारों का जन्म हुआ तो वहीं महात्मा बुद्ध, सूरदास, कबीरदास, महात्मा गांधी, पंडित नेहरू, ज्योतिबा फुले, डॉ० अम्बेडकर जैसे महापुरूषो का अवतरण भी इसी भारत वर्ष की धरती पर हुआ है।

इन महापुरूषो की चेतना व्यक्तित्व एवं विचार धारा से समाज को नई दिशा मिलती रही है। भारतीय संविधान के निर्माता डॉ० भीमराव अम्बेडकर एक प्रबुद्ध विचारक एवं सर्वहारा समाज को एक नई दिशा प्रदान करने वाले ऐसे महापुरूष हुये हैं, जिन्हे भारतीय समाज में दलितों का मसीहा कहा जाता है। पीड़ित मानवता का उद्धार करने एवं दलित वर्गों को सामाजिक व आर्थिक न्याय दिलाने में डॉ० अम्बेडकर के अथक प्रत्यनो को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिल रही है।

यह सुविख्यात है कि डॉ० अम्बेडकर एक प्रखर बुद्धिजीवी, विद्रोही व्यक्तित्व, प्रभावशाली वक्ता, अनन्य लेखक तथा शोध विधिवेत्ता थे। इन सबसे अधिक वह एक अत्यंत महत्वपूर्ण क्रान्ति दृष्टा थे। उन्होंने एक सच्चे खोजी के रूप में मानव के अधिकारों तथा मानव के गौरव को उच्च मानवीय सभ्यता की ओर अग्रसर करने के उद्देश्य से स्वयं को प्रतिष्ठित किया।

हमारा यह मानना न्यायोचित है कि डॉ० भीमराव अम्बेडकर को हम भारत का सपूत कहने का दावा करें। किन्तु इतिहास उनका सही अर्थ में एक विश्व पुरूष के रूप में मूल्यांकन करेगा। उनका जीवन किसी विशेष क्षेत्र के निवासियों के लिये ही नही बल्कि मानव समाज के हर वर्ग की मुक्ति के लिये समर्पित था। उनका संदेश सम्पूर्ण विश्व के उन सभी स्थानों और स्थितियों के लिये अर्थ रखता है जहां मनुष्य–मनुष्य के प्रति अन्याय एवं ऊंच–नीच का व्यवहार करता है। भारतीय लोकसभा के केन्द्रीय भवन में भीमराव अम्बेडकर की प्रतिमा की स्थापना इस बात का प्रतीक है कि भारतीय जनता तथा इस देश की सरकार भारत की समाज

व्यवस्था और राजनीति में उनके द्वारा प्रतिपादित और स्थापित पवित्र मानवीय दृष्टि को कितना महत्वपूर्ण मानती है। डॉ० अम्बेडकर के इन प्रयासों के बाजवूद आज आजादी के पांच दशक बाद भी यह एक दुःखद और कटु सत्य है कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से हम सब समान और स्वतन्त्र है, परन्तु हमारा देश न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के मानवीय आदर्शों से अभी भी बहुत दूर है। मानवीय प्रतिष्ठा तथा बुनियादी मानवीय अधिकारों का हनन हो रहा है। वास्तविकता यह है कि मानव अस्तित्व के विवाद रहित बुनियादी पहलुओं के लिये संविधान और कानून में ऊँचे आदर्शपूर्ण प्रावधान अवश्य है, लेकिन समाज के कुछ विशेष वर्ग हमारे क्रूर अत्याचार दमन और उपेक्षा का शिकार होते रहे हैं। जातिवाद का दुष्प्रभाव जिसने शताब्दियों से भारत को कमजोर एवं दुर्बल बनाया है उससे आज भी भारतीय जीवन अभिशप्त है।

युग पुरूष डॉ० भीमराव अम्बेडकर सामाजिक नव जागरण के अग्रदूत थे। उन्होने शिक्षा के प्रति अपना नजरिया बिलकुल साफ रखा। डॉ० साहब ने हर समय किताबों के बीच रहना पसंद किया। डॉ० भीमराव अम्बेडकर को जिन्होंने भी देखा वे जानते है कि वे सदा पुस्तकों से घिरे रहते थे। प्रतिदिन पुस्तकालयों में और पुस्तक विक्रेताओं के पास जाते थे। कोई नई पुस्तक आने पर सबसे पहले वह पुस्तक खरीदने की कोशिश करते थे उनका मानना था कि ज्ञानोपार्जन ही जीवन है, व्यक्ति ज्ञान के बिना पशु के समान है, व्यक्ति का सौदंर्य ज्ञान है। डॉ० भीमराव अम्बेडकर अपने अध्ययन कक्ष में कई टेबलों पर पुस्तकें रखते थे और सभी टेबलों पर अलग–अलग विषय की पुस्तकें होती थी, जब एक टेबल पर पढते–पढ़ते थक जाते थे तो थोड़ा चहल कदमी करने के बाद दूसरी टेबल पर दूसरा विषय पढ़ने लगते थे।

डॉ० अम्बेडकर पर एक किताब लिखने वाले लेखक शंकरानंद शास्त्री ने स्वयं देखा कि डॉ० भीमराव एक विषय को पढ़ते–पढ़ते दूसरी टेबल मे पहुंच कर दूसरा विषय पढने लगे तो उन्होने डॉ० साहब से पूछा, "डॉ० साहब इस प्रकार लगातार स्थान एवं विषय बदल कर पढ़ने से तो आपके ज्ञान तन्तु थक जाते होंगे"? डॉ० भीमराव मुस्कराये और कहा, "नही इस प्रकार पढने से ज्ञान तन्तु थकते नहीं बल्कि उनका व्यायाम हो जाता है। अध्ययन का अभ्यास होता है और विषय और स्थान बदलने से मस्तिष्क की थकान भी दूर होती है और पढ़ने की रूचि भी बढ़ जाती है इसलिये अध्ययनशील व्यक्ति को चाहिये कि एक के बाद दूसरे विषय को पढकर अपने ज्ञान तन्तुओ को आराम दे।[1] इससे ये बात साफ हो जाती है कि किस कदर सभी विषय की पुस्तकों को अपने आस–पास समेटे रहते थे, और हर समय अध्ययन के साथ उनके मस्तिष्क में निर्बल वर्ग की भलाई सदियों से शोषित दलित लोगों के सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षिक उत्थान की प्रतिध्वनि गूंजती रही। उन्होंने समाज में विद्यमान रूढ़िगत मान्यताओं और विषमताओं को समूल नष्ट करने, सामाजिक न्याय दिलाने एवं दलितों को न्यायोचित अधिकार सुनिश्चित करने के लिये जीवन पर्यन्त संघर्ष किया।

समाज के सबसे कमजोर व्यक्ति के लिये स्वाभाविक रुप से ही डॉ० अम्बेडकर एक महान उद्धारकर्ता, पीड़ा के मुक्तदाता, एक बोधिसत्व के रुप में हैं। दूसरों के लिये भी यह समझ लेना चाहिये कि वे ऋणकर्ता ही हैं। डॉ० भीमराव अम्बेडकर की गिनती हिन्दुत्व और भारतीय समाज के महानतम सुधारकों में की जायेगी। इसी से वे मानववादी जीवन और शान्ति की दिशा में बढ़ सकते हैं और व्यावहारिक तथा अध्यात्मिक लक्ष्यों को पा सकते हैं। वस्तुतः ऐसे विकास से ही राष्ट्रीय पुनः निर्माण को समुचित सार्थकता मिल सकती है। और मानव विकास के

---

1. शास्त्री शंकरानद, (उद्धृत), युग पुरुष बाबा साहेब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, जीवन संघर्ष एवं राष्ट्र सेवायें, अमृत बुक कम्पनी, नई दिल्ली, 1990, पृ0 399.

सम्यक् कल्याण की दिशा में भारत का अविर्भाव एक शक्ति के रूप में हो सकता है, यही डॉ० भीमराव अम्बेडकर का सपना था जिसे अभी साकार होना है, जिसमें जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र की विषम मानसिक अवस्थाओं से पृथक एक आस्था, एक विश्वास, के आधार पर एक सुगठित, सशक्त भारत का निर्माण होगा।

अम्बेडकर एक व्यक्ति का नाम नहीं बल्कि एक विचार धारा का रूप प्राप्त कर चुका है, जिसे हम अम्बेडकरवाद कह सकते है। यह विचार धारा दलित, शोषित व्यक्तियों के हक और सम्मान के संघर्ष का प्रतिबिम्ब है।

भारत देश में ही नहीं अम्बेडकरवाद पूरे विश्व की आवश्यकता बनता जा रहा है। आधुनिक भारत के उचित मागों के संदर्भ में अम्बेडकरवाद की व्याख्या एक शुभ संकेत है।

निःसंदेह डॉ० अम्बेडकर विपरीत परिस्थितियों में पैदा हुए एक अद्भुत, मिशाल थे जिनकी रोजमर्रा की चिन्ता ही उन लोगों से घिरी थी जिन्हे पैदा होने का हक तो था परन्तु जीवित रहते हुए जीने का नहीं। अम्बेडकर ने इस सिलसिले को गति प्रदान करते हुए जीवन को ससम्मान जीने की कला बताया। उन्होने कहा था "आत्म बल, सम्मान और राष्ट्र प्रेम खोकर जीने से बढ़कर अपमान कुछ भी नहीं है।"[1] यही कारण है कि अम्बेडकर वाद को आज भली प्रकार से समझने की आवश्यकता है। डॉ० अम्बेडकर के विचारों में अनेक ऐसे अनछुये पहलू है जिनके विश्लेषण की आवश्यकता है। डॉ० अम्बेडकर न केवल एक विधिवेत्ता थे बल्कि वे एक समाज सुधारक, मानवतावादी, धर्म प्रवर्तक और राष्ट्रवादी व्यक्तित्व से भी लैस थे। डॉ० साहब के व्यक्तित्व के इन तमाम पहलुओं में से धर्म प्रवर्तक के माध्यम से एक सशक्त राष्ट्र निर्माण के पक्ष को स्पर्श करना इस शोध का उद्देश्य है।

अपने सम्पूर्ण संकल्प तथा ध्येय सहित डॉ० अम्बेडकर ने अपने जीवन में

---

1. जाटव डी0आर0, अम्बेडकर एक प्रखर बिद्रोही, ए0बी0डी0 प्रकाशन, जयपुर, 2004 पृ0 3

भारत वर्ष के अन्दर प्रस्थापित ब्राह्मणवादी तत्वों के विचारो में धंसे दलित, पीड़ित, श्रमजीवी भोले भाले लोगों के कल्याण हेतु कार्य किया। उनको इन्सान के नाते जीना आना चाहिए। प्रकृति ने जो भी वस्तुयें या चित्रों को निर्मित किया है उन सबके उपभोग का सामान अधिकार सबको होना चाहिए, उनको समाज में विचरण के लिए सामाजिक अधिकार प्राप्त हो, इतना ही नहीं पूरी दुनिया के सभी देशों को इसका आदर्श स्वीकार कर कार्यान्वित किया जाना चाहिए जिससे वहां के मानव समुदाय का भी कल्याण हो, इन आदर्शों को सामने रख कर डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने पुरानी परम्परा वर्ण व्यवस्था, व्यक्ति वाद, अंधश्रद्धा तथा देव या ईश्वरवाद के विरूद्ध आजीवन संघर्ष किया। दलित मानवता के जीवन में प्रकाश पुंज बिखेरे, उनकी आने वाली पीढ़ी स्वस्थ हवा में सांस ले। इस मुद्दे पर डॉ० अम्बेडकर की चिन्ता जगजाहिर थी। अम्बेडकर यह समझते थें कि धर्म विशेषकर (हिन्दू) की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, आडम्बरों के मकड़जाल में फंसकर समाज के उस दुर्बल घटक का क्या हश्र हुआ और होगा यह अकल्पनीय है।

इस प्रकार पीड़ित किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के रहते स्वस्थ सशक्त राष्ट्र के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती राष्ट्र का निर्माण ओर उसकी दष्ढ़ता का आधार स्तम्भ होता है समता मूलक समाज। जो धर्म या समाज, समाज में विभेदिजनक स्तरीकरण स्थापित करता है वह शक्ति शाली राष्ट्र का निर्माण कर ही नहीं सकता ।

डॉ० अम्बेडकर की दृष्टि से व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व है लेकिन वह धर्म अंधविश्वासों, कुरीतियों और आडम्बरो से मुक्त होना चाहिए। धर्म के महत्व को स्वीकार करते हुए डॉ० साहब ने हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों, वर्णवाद, जातिवाद, छुआछूत, ऊँच–नीच के प्रति विद्रोह किया, जिसके

कारण उन्हे हिदुत्व विरोधी भी कहा जाने लगा। परन्तु तथ्य यह है कि डॉ० अम्बेडकर थोथी परम्पराओं तथा रूढ़ियों के विरूद्ध थे, न कि असली धर्म के प्रतिरोधी।

हिन्दू धर्म ग्रंथों में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'धारयति इति धर्मा:' अर्थात धर्म वह है जो मनुष्य को धारण करता है, जीवन को धारण करता हैं और जो मनुष्य की आस्था, निष्ठा, विश्वास, कर्म और फल को धारण करता है। डॉ० अम्बेडकर ने धर्म के नाम पर वर्ण वादी, जातिवादी तथा पुरोहितवादी नीतियों एवं व्यवहारों का विरोध किया।

डॉ० अम्बेडकर की मान्यता थी कि स्वतन्तत्रा समता, भाईचारा, मानसम्मान, तथा मनुष्य सामाजिक जीवन के मूल है। अतः इनको धर्म से अलग नही किया जा सकता। उन्होने धर्म के साथ ईश्वरवाद, परलोकवाद, नरक–स्वर्ग, आवा–गमन, मरणोपरान्त मोक्ष, कर्मकाण्ड आदि को जोड़ना व्यर्थ माना। अम्बेडकर ने उन सब धार्मिक और सामाजिक कार्यों का बहिष्कार किया जो मात्र दिखावा प्रतीत होते है या जो परलोक का भयमात्र दिखाकर व्यक्ति की आत्मा को दास बनाते है।

डॉ० अम्बेडकर भाषावाद तथा साम्प्रादायिकता के नाम पर भेद–भाव के विरूद्ध थे उन्होने स्वयं कहा था, "हमारे देश में भाषावाद का दूसरा नाम साम्प्रदायिकता है। जब आप भाषा धारित को प्रदेश बनाते है तो जो कुछ होता है वह यह है कि आप प्रशासन के तार एक ही समुदाय को सौप देते है जिसे बहुमत वाला समुदाय कहा जाता है और मैं अनेक प्रदेशो के उदाहरण दे सकता हूँ जहां ऐसा होता है वह समुदाय स्वयं अपने पवित्र आस्तित्व की भावना से ओत–प्रोत हो जाता है, फलतः वह प्रदेश घटिया प्रकार की साम्प्रदायिकता का व्यवहार करने लगता है जिसे अन्यथा भेद–भाव कहते है। भेदभाव अन्याय पैदा करता है और अन्याय दुर्भावना

उत्पन्न करता है यदि हमारा भाषा वाद साम्प्रदायिकता के साथ नहीं जुड़ता तब अपना भाषावाद किसी के लिए बिलकुल खतरा नहीं होगा।"[1] जो भी तत्व समाज में भेदभाव की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है वह राष्ट्र और राष्ट्रवाद के विपरीत तत्व होता है। डॉ० अम्बेडकर के स्वयं के जीवन और संघर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

डॉ० अम्बेडकर सही अर्थो में बहु आयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे, उनका लालन पालन अनुशासन के वातावरण में हुआ था। अतएव यह उनके व्यक्तित्व में पूरी तरह समाहित था। जन्मना वह अस्पष्श्य परिवार के थे और इस कारण जीवन में उन्हें प्रायः अपमान जनक स्थितियों का सामना करना पड़ता था। परन्तु इन अपमानों और तिरस्कारो से वह जरा भी विचलित नही होते थे। उनमें एक अपराजेयताः की भावना थी। अतः सारी विपरीत परिस्थितियों के रहते हुये वह अपने निर्धारित मार्ग पर आगे बढ़ते रहे और उच्च शिक्षा प्राप्त करते हुयें इग्लैण्ड, अमेरिका तथा जर्मनी के विख्यात विश्वविद्यालयों से अनेक उपाधियां प्राप्त की। पाश्चात्य देशों में अनेक वर्षो तक रहने के बाद भी डॉ० अम्बेडकर पूर्णतः भारतीय बने रहे। डॉ० अम्बेडकर एक अटल देश भक्त तथा राष्ट्रवादी थें। उनके भाषण तथा लेख उनकी देश भक्ति की भावना के प्रमाण हैं, वस्तुतः उन्हें इस बात का स्वाभिमान था कि अपनी पीढ़ी के अन्य किसी भी व्यक्ति की तुलना में वह एक प्रखर राष्ट्र भक्त थे।[2]

डॉ० भीमराव अम्बेडकर के व्यख्यान तथा लेखन इस बात का प्रमाण हैं कि वह पूर्णतः तर्कवादी थे। जो बात तर्क सम्मत नही हो उसे वह कदापि नही मनाने थे। तर्क के दर्षष्टि से उनके वक्तव्य अकाट्य थे, भले ही वह कितने कटु और अप्रिय क्यों न लग रहे हों। इसी संदर्भ में टाइम्स ऑफ इण्डिया के 23 मई 1954 के अंक में छपी टिप्पणी का उदाहरण प्रासंगिक होगा। टाइम्स ने लिखा था कि "डॉ० अम्बेडकर का राजनीतिक जीवन एक ऐसे व्यक्ति की त्रासदी है जो यह सोचता है राजनीति तर्क शास्त्र की कायल है। वह सोचते है कि वही चीज सही है जो तर्क

1. (उद्धृत) अम्बेडकर डा० बाबा साहब भीमराव, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड–15, 1997, पृ० 859–60

2. जाटव, डी० आर०, पूर्वोक्त पृ० 21

सम्मत हो। अस्पृश्यता इस लिये गलत है क्योंकि वह तर्क हीन है डॉ० अम्बेडकर तर्क को आधार भूत मानते हैं और तर्क के मार्ग से निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, किन्तु राजनीतिज्ञो का विशाल झुंड तर्क का कायल नही होता है। यह झुंड उल्टे रास्ते चलता है यह निष्कर्ष के अनुसार तर्क गढ़ लेता है।[1]

डॉ० अम्बेडकर हर स्थित को अपने देश की जमीनी हकीकत से जोड़कर देखते और मुल्यांकन करते थे। चाहे राजनीति का काम हो या समाज का डॉ० अम्बेडकर सदैव राष्ट्र समर्पित रहे। उनका कोई भी कार्य राष्ट्र हित के विरुद्व नही रहा। उन्होने एक बार कहा था कि "अपनी विचार धारा के प्रति मेरी निष्ठा अंतर्निहित है। अपना यह देश प्रचुर सम्भावनाओं वाला देश है।"[2] आगे उन्होने कहा कि "मै श्री गांधी और श्री जिन्ना दोनो को ही नापसन्द करता हूं किन्तु मैं उनसे घृणा नही करता क्योकि मै भारत को बहुत ज्यादा प्यार करता हूं। हर राष्ट्रवादी का यही सच्चा धर्म है। मैं आशा करता हूं कि कोई दिन आयेगा कि जब मेरे देशवासी यह जानेगें कि देश लोगो से कहीं बड़ा होता है।[3]

डॉ० अम्बेडकर अपने देश को भारत कहकर ही पुकारते थे वस्तुतः उन्हे अग्रेजी नाम इंडिया पन्सद नही था।[4] ये सभी तत्व अम्बेडकर के राष्ट्रवादी चिन्तन को प्रतिबिम्बित करते हैं ।

डॉ० अम्बेडकर– एक परिचय

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम धर्म सामजिक व्यवस्था का एक अभिन्न हिस्सा रहा है। मनुष्य के आत्मा के गुणों के आधार पर उसके कार्यो का निर्धारण कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चार वर्णों का निर्माण किया गया, प्राचीन काल में इन वर्णों का आधार गुण और कर्म होते थे, किन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था जन्म अधारित हो

1. वही, पृ० 23–24
2. वही,
3. वही,
4. वही, पृ० 25

गयी और जातियों का अविर्भाव हुआ। इनके साथ ही समाजिक स्तरीकरण और ऊंच–नीच का भेद–भाव भी उभर कर सामने आया, इस व्यवस्था के अर्न्तगत समाज के कमजोर वर्गो को समाज के संसाधनो से एक प्रकार से वंचित ही रखा गया। परिणाम स्वरुप यह वर्ण तिरस्कार और उपेक्षा का दंश लेकर जीवन जीने के लिये अभिशप्त था।

आमानवीय प्रताणनाओं और उपेक्षित जीवन के प्रतिक्रिया स्वरुप इस वर्ण से समय–समय पर चेतना पुन्ज व्यक्तियों का उदय होता रहा है, जिन्होने देश और समाज के हित मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस श्रृंखला में एक अग्रणी नाम है डॉ० भीमराव अम्बेडकर जिनका जन्म 14 अप्रैल 1891 को महार जाति मे इंदौर जिले की महु छावनी में हुआ। डॉ० अम्बेडकर के पिता राम जी मालो जी सकपाल ईस्ट इण्डिया कम्पनी मे सुबेदार मेजर के पद पर कार्यरत थे उनकी माता का नाम श्रीमती भीमाबाई था। यद्यपि डॉ० अम्बेडकर अपनी माता की चौदवीं सन्तान थी तद्यपि उनके दो भाई और चार बहने ही जीवित रही, जिनके नाम थे बालाराव, आनन्दराव, गंगा, रमाबाई, मंजुल, और तुलसा।इनके पिता सुबेदार रामजी के नाम से ही जाने जाते थे। धार्मिक विचारों के राम जी कबीर के प्रशंसक थे। इसका प्रभाव बालक भीमराव पर भी पड़ा। मांस–मदिरा से परहेज करने वाले राम जी के पिता भी धार्मिक और उदार स्वभाव के थे। इस कारण घर का वातावरण आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी विवाद रहित था। डॉ० भीमराव को यह विरासत में प्राप्त हुआ।

डॉ० अम्बेडकर के पिता सुबेदार रामजी 1894 मे सेना की सेवा से निवृत हुये। वह बम्बई चले गये फिर सतारा पहुंचे। वहां उनको दुबारा नौकरी मिल गयी। फिर सारा परिवार सतारा चला गया। इसी बीच सूबेदार राम जी सकपाल का स्थानान्तरण गोरेगांव हो गया। उनका परिवार सतारा मे ही रहा इस बीच लम्बी बीमारी से

भीमराव की मां भीमाबाई का निधन हो गया।

डॉ० अम्बेडकर के पूर्वज अम्बावडे गांव के निवासी थें। प्रांरभ में इनका उपनाम अम्बावडेकर था चूकि महाराष्ट्र में अधिकांश लोग अपने गांव के नाम के बाद 'कर' शब्द जोडते है इस प्रकार भीमराव का उपनाम अम्बेडवार बन गया, परन्तु उच्चारण की सरलता के कारण यह अम्बेडकर हो गया। सतारा शाला में अध्ययन के दौरान अस्पृश्यता के कारण बालक भीमराव को अनेक कठनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय बाल–विवाह का अधिक प्रचलन था इसलिये लगभग 15 वर्ष की उम्र में भीमराव का विवाह वालंगकर की पुत्री रमाबाई से कर दिया गया। विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुये भीमराव ने 1907 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस जमाने में किसी तथाकथित अछूत का मैट्रिक पास करना बहुत बड़ी बात थी। राम जी ने अपने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने के लिये बम्बई एलफिन्सटन कालेज में दाखिला दिलाया।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर बचपन से ही लगन के पक्के थे, इनके अध्ययन एवं परिश्रम से इनके शिक्षक बहुत प्रभावित थे। डॉ० अम्बेडकर की विद्वत्ता से प्रभावित होकर बड़ौदा रियासत के महाराज सयाजी राव गायकवाड़ ने 25 रु0 प्रतिमाह की छात्रवषति स्वीकार कर दी। भीमराव ने 1912 में बी०ए० की परीक्षा पास की। इनके बाद बड़ौदा राज्य की फौज में लेफ्टीनेंट के पद पर नियुक्त हुये। परन्तु अम्बेडकर इस पद पर थोड़े समय ही रह सके।

डॉ० भीमराव को लगा कि अब कुछ अच्छा समय आने वाला है तो उनके सिर पर विपत्ति आ पड़ी। 2 फरवरी 1913 को पिता रामजी सकपाल का निधन हो गया। अनाचक पिता के निधन से भीमराव व्याकुल हो गये। चूंकि रामजी सकपाल ने एक आदर्श पिता के रुप में विपरीत आर्थिक परिस्थितियों से जूझते हुये भी अपने पुत्र भीमराव को उच्च शिक्षा देने का संकल्प किया था परन्तु उनके

कहे एवं बनाये हुये नियम को अपनाकर ही भीमराव आगे बढते रहे ।

डॉ० अम्बेडकर ने 1915 में एम० ए० और 1917 मे कोलंबिया विश्वविद्यालय से "द एवोलूशन ऑफ प्राविन्शियल फाइनेन्स इन बिट्रिश इण्डिया" शोध प्रबन्ध पर पी–एच०डी की उपाधि प्राप्त की। इस बीच उन्होंने अमेरिकी जीवन शैली का भी अध्ययन किया। अमेरिका की स्वतन्त्रता मानव मूल्यों और उदार व्यवहार ने डॉ० भीमराव को बहुत प्रभावित किया। इसके बाद डॉ० अम्बेडकर लंदन गये जहां बार एट ला की पढाई की पूरी की।

विदेशो में रहकर अध्ययन करने के कारण उन्हे नई दिशा प्राप्त हुई। उन्हें भारत मे जाति व्यवस्था के नाम पर आदमी–आदमी की दूरी खलने लगी। पीड़ित वर्ग को समाज में बराबरी का दर्जा दिलाने के लिये 1920 में 'मूक नायक' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1927 में 'बहिष्कृत भारत' नामक मराठी पत्रिका का भी प्रकाशन शुरु किया। दोनो पत्रिकाओं में शोषित लोगों को उचित अधिकार दिलाने की मुहिम की शुरुआत की।

डॉ० भीमराव के जीवन में काफी उतार चढ़ाव आये। 1913 में जब डॉ० साहब अमरीका में थे तब इनकी पत्नी रमाबाई के पहले पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम रमेश रखा गया परन्तु वो बालक बचपन में ही ईश्वर को प्यारा हो गया। वर्ष 1919 में दूसरे पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम गंगाधर रखा गया। यह बालक भी जल्द ही काल कलवित हो गया । डॉ० अम्बेडकर का तीसरा पुत्र यंशवत हुआ जो पूर्ण स्वस्थ्य रहकर पूर्ण जीवन जिया, इनकी इनकी चौथी संतान पुत्री थी जिसका इंदू नाम रखा गया और रमाबाई को अन्तिम पुत्र 1925 में जन्मा जिसका नाम राजरत्न रखा गया। पुत्री इन्दू और पुत्र राजरत्न भी बचपन मे ही मौत की नींद सो गये । सिर्फ एक पुत्र यशवंत ही जीवित रहा। इस सब के बाबजूद उनको भारत में लाखों

दलित गरीब लोगो की चिन्ता थी। उन्होने पीड़ित वर्ग के व्यक्तियों की नियति का निर्माण करने में युगांतकारी योगदान दिया।

डॉ० अम्बेडकर ने दलित लोगो को एक नई विचार धारा और सोचने की क्षमता प्रदान की। यह नई विचार धारा थी, "शिक्षित बनो, संगठित रहो समाजिक न्याय एवं समता के लिये संघर्ष करो।" वह सामाजिक सुधारो को परोपकार के रुप में नही बल्कि अधिकार के रुप में चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि अछूत समाज में स्वाधीनता और आत्मगौरव की चेतना जागष्त हो। वह नया मनुष्य एक नया समाज निर्माण करने के अभिलाषी थे। उसमें समाजिक समागम का सतत् प्रवाह रहना चाहिये।

डॉ० अम्बेडकर के मतानुसार जाति व्यवस्था ने समाज की, विशेषकर समाज के पिछडें वर्ग की बहुत हानि की। जाति व्यवस्था ने भारत को विभाजित कर दिया और हिन्दूओ को छोटे–छोटे हजारों समुदाय में विभक्त कर दिया, जो भ्रातृत्व की भावना को विकसित नही होने देता है। इसलिये डॉ० अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था की संस्था की भर्त्सना की और उसकी समाप्ति का आह्वान किया।

डॉ० अम्बेडकर ने जब यह देखा कि अछूत लोगों के साथ समाज में उच्च्य जातियों के लोगों द्वारा उनका दमन पराधीन करके निम्न तर व्यक्तियों जैसा व्यवहार किया जाता है तो इस प्रथा के प्रति उन्होने विरोध प्रकट किया और दुःखी होकर 23 अक्टूबर 1935 को येवला में यह संकल्प लिया कि "यद्यपि मेरा जन्म एक हिन्दू की भांति हुआ था जो एक मेरे हाथ मे नही था किन्तु मै हिन्दू की तरह मरुगा नहीं।"[1] उनका यह संकल्प 21 वर्ष बाद 14 अक्टूबर 1956 को साकार हुआ जब उन्होंने अपने लाखों अनुयायियों के साथ नागपुर में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। यह एक एतिहासिक घटना थी।

1. (उद्धृत) वही, पृ0 67

विश्व के इतिहास मे 14 अक्टूबर 1956 की धर्मान्तरण की यह घटना अद्वितीय थी। इस पर जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि "डॉ० अम्बेडकर उच्च कोटि के देश–भक्त और सामाजिक क्रान्तिकारी थे। जिस वर्ग मे उनका जन्म हुआ था उसमे यदि मै भी पैदा हुआ होता तो मैं भी वही करता जो उन्होने किया।"[1]

दलितों के कल्याण के लिये डॉ० अम्बेडकर सच्चे समर्थक बने, सभी प्रकार सामाजिक–आर्थिक भेदभावों के विरूद्व संघर्ष किया। बम्बई लेजिस्लेटिव कांउसिल में भाषण करते हुये 27 फरवरी 1927 को कहा था कि 'सरकार को दलितों की सहायता अवश्यमेव करनी चाहिये।" और इस तरह डॉ० साहब ने अस्पष्यता की समस्या को महत्वपूर्ण रूप से रेखांकित किया। अस्पृश्यता उन्मूलन के लिये पहला आन्दोलन 19 मार्च 1927 को महाड से शुरू किया। पानी जैसे प्राकषतिक संसाधनो की पूर्ति, अछूतों के लिए समान अधिकारों की मांग की जो उस समय अछूतों के लिए निषिद्व थे। यह आन्दोलन "मीठा पानी तालाब सत्याग्रह" के नाम से जाना जाता है। 28 मार्च 1928 को बंधुआ मजदूर प्रथा के खिलाफ अपना दूसरा आन्दोलन आरम्भ किया। महाड़ की सफलता के पश्चात् 2 मार्च 1930 को 'कालाराम मंन्दिर' नासिक में 'मन्दिर प्रवेश' नामक आन्दोलन शुरू किया।

डॉ० भीमराव भारत राष्ट्र के समर्पित एक सैनिक की भांति रहे है। उनको जो भी कार्य सौंपे गये उनको उन्होने पूरे उत्तरदायित्व के साथ निभाया है।

गोलमेज सम्मेलन में सहभागिता

डॉ० साहब का संघर्ष काल अंग्रेजो के समय का था। भारत की सारी जनता अंग्रेजो की दासता से मुक्ति चाहती थी उनको वह हर एक नेता प्रिय लगता था जो अंग्रेजो की हुकुमत से मुक्ति दिला सकने की क्षमता रखता था। देश की आजादी

---

1. (उद्धृत) वही, पृ0 158

के लिये दो प्रकार से प्रयत्न हो रहे थे, राजनीतिक और क्रान्तिकारी के रूप में, देश का हर बड़ा नेता देश की आजादी के लिये प्रत्यनशील था। डॉ0 अम्बेडकर उन नेताओं में से थे जो विचार विमर्श कर देश की आजादी लेना चाहते थे। अंग्रेज सरकार ने स्वतन्त्र भारत के भावी नीति– निर्धारण के लिये गोलमेज सम्मेलन लंदन मे बुलाया। इसमें डॉ0 अम्बेडकर ने भी भाग लिया प्रथम गोलमेज सम्मेलन 12 नम्वबर 1930 से 21 नवम्बर 1930 के बीच सम्पन्न हुआ। डॉ0 अम्बेडकर ने दलित जातियों का पक्ष रखते हुये कहा कि "इंग्लैण्ड और फ्रांस की आबादी के बराबर भारत में अछूतों की आबादी है। इन अछूतों को समाजिक, आर्थिक, नागरिक, शैक्षणिक किसी भी प्रकार की आजादी प्राप्त नही है। इतनी विशाल जनसंख्या वाले अछूत सब के सब गुलाम है, अंग्रेंजो के भारत मे आने के पहले भी अछूत गुलाम थे, देश में 150 वर्षो के अंग्रेजो के शासन के बाद भी अछूत गुलाम है। अंग्रेंजो के शासन से अछूतो को क्या लाभ? अछूत भारत में लोगों के लिए, लोगों के द्वारा, लोगों का शासन चाहते है।"[1]

आगे आपने कहा अंग्रेजी राज्य के पूर्व अछूत हर तरह से बर्बाद बेपनाह थे। क्या अंग्रेज सरकार ने अछूतों की बर्बादी दूर करने के लिये कुछ किया ? अंग्रेजी राज्य के पूर्व अछूत आम तालाब कुओं से पानी नही पी सकते थे।

क्या अंग्रेजी सरकार ने आछूतों को यह अधिकार दिलाया? अंग्रेजी राज्य के पूर्व अछूत मंन्दिर मे प्रवेश नही कर सकते थे क्या अंग्रेजी राज्य ने अछूतों को यह अधिकार दिलाया ? ब्रिटिश राज्य के पूर्व अछूत सेना, पुलिस में भर्ती नही हो सकते थे क्या ब्रिटिश राज्य ने हमें यह अधिकार दिलाया ? ऐसे अनेक प्रश्न है, जिसमें से किसी एक का भी उत्तर हां में नही दिया जा सकता। ब्रिटिश राज्य के पूर्व अछूत जिस हालत मे थे वैसे ही आज भी हैं फिर ऐसी सरकार से हमें क्या फायदा है?

---

1. हंस बुद्व शरण, बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर जीवन कथा, अम्बेडकर मिशन पब्लिकेशन पटना,–2, 1991 पृ0 64–65

हम ऐसी सरकार चाहते है, जो गरीब जनता की भलाई चाहे, और करे। हम ऐसी सरकार चाहते है जों देश में आर्थिक सामाजिक समता लावें। हम ऐसी सरकार चाहते है जो देश में बदलाव लावे। भारत का संविधान ऐसी प्रेरणा से बनना चाहिये कि जो देश से जाति वर्ण और ऊंच–नीच का भेद–भाव मिटा दे। यह सब हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब हमारे हाथ में राजनीतिक सत्ता हो।"[1]

डॉ० अम्बेडकर के ओजपूर्ण विद्वता से परिपूर्ण भाषण से विदित होता है कि डॉ० साहब कितने राष्ट्रप्रेमी, लोकतन्त्रवादी व स्वतंत्रता के समर्थक थे। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन 7 सितम्बर 1931 से प्रारम्भ हुई जिसमें डॉ० साहब ने दलितों के हितो की पुरजोर वकालत की जिसके फलस्वरुप अंग्रेजी सरकार ने पुलिस और सैन्य बलो की भर्ती में दलितों को वरीयता देना प्रारम्भ कर दिया।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन 17 नवम्बर 1932 को लंदन में प्रारम्भ हुयी । इस सम्मेलन में डा० साहब ने दलितों के साथ महिलाओं की दीन–हीन दशा के बारें में भी आवाज उठाई तृतीय गोलमेज सभा का समापन 24 दिसम्बर 1932 को हुआ। अब तक डॉ० भीमराव अम्बेडकर की गिनती राष्ट्रवादी नेताओं में होने लगी थी। गोलमेज सभा के बाद डॉ० साहब ने दलितों के लिये स्वतंन्त्र राजनीतिक अधिकार की मांग की। और स्वंतन्त्र भारत में इनके लिए पृथक निर्वाचन की मांग रखी इस बात पर मुसलमान, सिक्ख, ईसाई तथा अन्य राजनीतिक दल भी सहमत थे।

14 अगस्त 1932 को ब्रिट्रिश सरकार ने भारत वर्ष के लिये कम्युनल एवार्ड की घोषणा कर दी। भारत में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा इनके लिये के लिये राजनीतिक अधिकारों से सम्बधित निर्णय को ही 'कम्युनल एवार्ड' कहा गया। इसमें प्रान्तों के विधान सभाओं में पृथक स्थान प्रदान किये। अनुसूचित जातियों को दोहरे निर्वाचन का अधिकार दिया गया। लेकिन इस को देश मे पूरा समर्थन नही मिलने

2. वही, पृ0 65

के कारण अमान्य कर दिया गया।

इसी प्रश्न पर महात्मा गांधी ने अपना आमरण अनशन शुरू किया था और दलित लोगों को पृथक निर्वाचक क्षेत्र देने का विरोध इस आधार पर किया था कि दलित स्त्री–पुरूष हिन्दू समाज के ही अंग हैं, अतंतः इस समस्या का समाधान 24 सितम्बर 1932 को दो महान नेताओं, डॉ० अम्बेडकर और महात्मा गांधी के बीच यर्वदा जेल पूना में सम्पन्न 'पूना समझौता' के रूप में हुआ। इस योजना के अंतर्गत 'कम्युनल अवार्ड' के बदले दलित वर्गो को राजनीतिक संरक्षण प्रदान किया गया।

संविधान निर्माण में महती भूमिका

डॉ० अम्बेडकर ने दलितों की प्रजातांत्रिक इच्छाओं को मुखरित करने के लिये 1942 में अनुसूचित जाति संघ का गठन किया। इसी साल 20 जुलाई को डॉ० अम्बेडकर साहब वाइसराय की कांउसिल में श्रम मंत्री के रूप में नियुक्ति हुये। इसी हैसियत से डॉ० अम्बेडकर ने श्रमिकों की सुरक्षा और महिलाओं के लिये तीन महीने का प्रसूत अवकाश संबंधी और अनेक सुधार मूल्य विधेयक शुरू किये। जब 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंन्त्र हुआ तो आप पहले कानून मंत्री बने, इसी वर्ष 19 अगस्त को वह संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष सर्वानुमति से निर्वाचित हुये और 26 नवम्बर 1948 को संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया। आधुनिक भारत के संविधान निर्माण में महान योगदान देने के कारण भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता के रूप में उनकी लोक प्रसिद्धी हुयी। पूर्व प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू आपको 'ज्वैल ऑफ द कैबिनेट' कहा करते थे।'[1]

डॉ० अम्बेडकर आधुनिक भारत के प्रमुख निर्माताओं मे से एक संसदीय प्रजातंन्त्र के साथ–साथ वह एक ऐसा भारतीय समाज चाहते थे जिसमे व्यक्ति का

1. जाटव, डी0 आर0, पूर्वोक्त, पृ0 43

सम्मान, उसकी गरिमा बनी रहे और शिक्षा धर्म राजनीति के क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त हो। आदमी के मूल्यांकन का मापदण्ड, जन्म न होकर उसकी योग्यता हो। अपनी इच्छाओं को व्यवहारिक बनाने की दिशाओं डॉ० अम्बडेकर ने महाराष्ट्र में अनेक स्थानो पर स्कूल कालेज तथा छात्रावास स्थापित किये। 'पीपुल्स एज्यूकेशन सोसाइटी' बनायी जिसकी देख–रेख में आज अनेकों शैक्षणिक संस्थायें कार्यरत है। डॉ० अम्बेडकर एक सच्चे देश भक्त तथा राष्ट्रवादी थे। उनके नये भारत की कल्पना में भूत एवं वर्तमान का एक सुन्दर समन्वय मिलता है। उन्होंने भारत की बौद्ध सांस्कृतिक धरोहर को संभाला और संविधान की भूमिका के निहित मूल्यों की प्राप्ति पर बल दिया, आधुनिक प्रगति से लाभ उठाया जाना चाहिये। डॉ० साहब ने अतिवादी दृष्टिकोण को पसंद नही किया। अतीत में जो मूल्य हीन है, उसे त्याग दिया जाये और जो आज प्रासंगिक है उसे ग्रहण किया जाये। वह चाहते थे कि जाति विहीन समाज की स्थापना हो जिसमें कौमी एकता, राष्ट्रीय भावना, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, समाजिक एकता तथा धार्मिक सहितष्णुता जैसे आदर्शो का अनुशरण किया जाये, किसी के साथ छुआ–छूत तथा ऊंच–नीच का व्यवहार न हो और सभी नागारिक निर्भय होकर शन्ति एवं सद्भाव पूर्ण जीवन यापन करे। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय के बौद्ध सिद्धान्त को व्यावहारिक बनाना चाहते थे। इसी कारण आज सारा देश उनको नमन करता है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत शोध को पूर्ण करने के उद्देश्य से डॉ० बी०आर० अम्बेडकर से संबन्धित आधार सामग्री देश के विविध पुस्तकालयों से प्राप्त की गई जिनमें प्रमुख है बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय केन्द्रीय पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय केन्द्रीय

पुस्तकालय, डॉ० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, लखनऊ, डॉ० बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान संस्थान महू म0प्र0 आदि। उक्त ग्रन्थालयों से डॉ० अम्बेडकर की कृतियों, भाषणों, लेखों व पत्रों आदि से सामाग्री प्राप्त की गई। इसके अतिरिक्त विभिन्न विद्वानो द्वारा अम्बेडकर के जीवन व्यक्तित्व और कृतित्व पर लिखे ग्रन्थो से भी विषयानुसार सामग्री प्राप्त कर उनका विश्लेषण करते हुए शोध निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन हेतु प्रमुख रूप से एतिहासिक व विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर की महत्वपूर्ण कृतियाँ एवं शोध पत्र–

1. Manifesto Scheduled Caste Fedration
2. Need for Checks and Balance
3. The Buddha and his Dhamma.
4. Caste in India
5. Ranade, Gandhi and Jinnah
6. What Congress and Gandhi Have done to the Untouchables.
7. Who were the shudra's.
8. The Untouchables
9. Buddha and future of this Religin.
10. Thoughts and Linguistic States.
11. Mr. Gandhi and Immencipation of untouchables
12. Pakistan and Partition of India
13. Annihilation of Cast
14. Federation Verses Freedom
15. Thoughts on Pakistan
16. State and Minorities

****

अध्याय–2

राष्ट्रवाद की अवधारणा

- राष्ट्रवाद की अवधारण
- राष्ट्र के निमार्णकारी तत्व
- राष्ट्रवाद का अर्थ
- राष्ट्रवाद के तत्व
- राष्ट्रवाद का विकास
- राष्ट्रवादी सिद्धान्त
- राष्ट्रवाद के प्रकार
- साम्प्रदायिकता और अल्पसंख्यकों की समस्या
- दो राष्ट्रों का सिद्धान्त
- भारतीय राष्ट्रीयता का वर्तमान चरित्र और समस्यायें

राष्ट्रवाद की अवधारणा

भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा का अध्ययन स्वयं में एक महत्वपूर्ण किन्तु विवादग्रस्त प्रश्न है? वस्तुतः राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीयता के प्रश्न का समाधान तब तक सही रुप में नही निकल सकता, जब तक हम इससें जुड़े निहितार्थ पर ध्यान नहीं देते। वर्तमान में इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध अनिवार्य रुप में भारतीय केन्द्र की आन्तरिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। हम यह अच्छी प्रकार जानते है कि भारतीय केन्द्र अथवा 'इण्डियन यूनियन' निर्माण अनेक भाषायी तथा क्षेत्रीय आधार पर निर्मित राज्यों के सम्मिलन सें सम्भव हो सका है। परिणाम स्वरुप इसे जन्म से ही क्षेत्रीय दबावों का सामना करना पड़ा है। वस्तुतः आज इसका अर्थ किसी बाहरी राष्ट्र के प्रभुत्व से मुक्ति अथवा औपनिवेशक साम्राज्यवादी शक्ति से स्वतन्त्र होने से सन्दर्भित नही हो रहा है। अतः यह कहना उचित नही लगता कि भारतीय राष्ट्रवाद अपनें शैशव काल अथवा निर्माण काल में है। अपितु राष्ट्रीय चेतना के विकास को आधार मानते हुये इसे एक परिपक्व राष्ट्र कहा जाये तो उचित होगा।

भारतीय राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में विद्वानों के बीच दो प्रकार की विचार धारा देखने को मिलती है। भारतीय विचारकों का एक वर्ग भारत को बहु–राष्ट्रीयता वाला राष्ट्र' कहने के पक्ष में तर्क देता है। दूसरा वर्ग इस बात पर बल देता है कि यह बहु–राष्ट्रीयता वाला राज्य अवश्य है जहां राष्ट्रीयता का निर्माण राष्ट्र निर्माण के पूर्व हुआ है, तथापि यह आवश्यक नही है कि इससे राष्ट्रवाद का ही निर्माण हो।[1] इसके अलावा ये भी विचार होता है कि क्या भारत एक नूतन राष्ट्र है, अथवा राष्ट्र निर्माण के काल में है, या यह कि यह एक राज्य हैं? संक्षेप में विभिन्न मतों के निष्कर्ष के परिणाम स्वरुप परिभाषित दृष्टि से भारत एक राज्य नही हो सकता।

1. त्रिपाठी सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्णदत्त, भारतीय राष्ट्रवाद स्वरूप और विकास, पृ0 158

किन्तु यह 'बहुराष्ट्रीयता वाला' 'राज्य है।

उपयुर्क्त अवधारणा के पीछे सम्भवतः यह तर्क दिया जा सकता है कि भारत में दोहरी चेतना दिखाई देती है। की ओर हम भारतवासी नही दूसरी ओर क्षेत्रवाद, भाषावाद पर आधारित राष्ट्रवाद भावना से हम मुक्त है। राष्ट्रीय आन्दोलन काल में राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को फलने–फूलने का अवसर मिला था। वर्तमान में क्षेत्रीय राष्ट्रयता की प्रवृत्ति के पीछे लोगों की प्रजातान्त्रिक इच्छा एवं अभिलाषा कार्य कर रही है। समान्यतः राज्यों को अधिक स्वायत्वता प्रदान करने की मांग के पीछे सम्भवतः अधिक प्रजातन्त्रवाद की ही अवधारण निहित है।

राष्ट्रवाद की अवधारणा

राष्ट्रवाद की अवधारणा का सूत्रपात 18 वीं शताब्दी में हुआ। कालान्तर में इसके चरित्र स्वरुप और आधार में परिवर्तन होते रहे हैं। राष्ट्र निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रिया देश और काल की सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुसार भिन्न–भिन्न समाजों में भिन्न रही है। 18वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता शासक वर्ग की आकांक्षा और प्रयास का विषय था। 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता ने मध्यम वर्ग के अभ्युदय के साथ–साथ बुर्जुआ आदोलन का स्वरुप ग्रहण किया। 20वीं–21वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता जन समान्य का है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति राजनीतिक, समाजिक और आर्थिक जीवन में सहभागिता का दावा करता है। 19वीं शताब्दी के राष्ट्रीय आन्दोलन अपने को सामाजिक आर्थिक न्याय के प्रश्न से पृथक रखते थे, परन्तु 20वीं शताब्दी की अवधारणा के अनुसार राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को समान अवसर एवं समान न्याय मिलना चाहिये। राष्ट्रीय और कल्याणकारी विचार धारा एक दूसरे के पूरक बन गये है। नेहरु, नासिर और बेनबेला

जैसे राष्ट्रवसियों ने तृतीय विश्व के लिये इसी का प्रतिपादन किया। राष्ट्रीयता के आधार के विषय में वाल्ट व्हिटमैन ने अपनी पुस्तक 'लीब्ज आफ ग्रास' में मुक्त राष्ट्रीयता (ओपन नेशनलिज्म) और अवरुद्ध राष्ट्रीयता में अन्तर किया। उनके अनुसार मुक्त राष्ट्रीयता में क्षेत्रीय संगठन, राजनीतिक समाज और व्यक्ति के निर्णय पर बल दिया जाता है। अवरुद्व राष्ट्रवाद में मूलवंश, उद्भव, धर्म आदि का अधिक महत्व है और जैविक तथा ऐतिहासिक नीयतिवाद से यह प्रभावित है। मुक्त राष्ट्रीयता का सबसे उपयुक्त उदाहरण अमेरिका है, जहां राष्ट्रीयता के आधार के रुप में धर्म मूलवंश जाति आदि को पूर्णतः अस्वीकार किया गया है। अमेरिकी राष्ट्रीयता का मुख्य आधार व्यक्तिवाद, गत्यात्मकता, सुख की खोज है और यूरोप की उदारवादी विचार धारा इसका मुख्य अंश है। अवरुद्व राष्ट्रीयता के उदाहरण इजराइल और नाजी जर्मनी हैं, जो प्रजाति विशेष के आधार पर राष्ट्र निर्माण करते है।[1]

देश काल के अन्तर से राष्ट्रीयता के आधार, स्वरुप तथा निर्माण प्रकिया भिन्न हो जाने के कारण राष्ट्रवाद की पूर्णतः संतोषजनक परिभाषा देना कठिन है। राष्ट्रवाद जैसी गतिशील अवधारणा को परिभाषा की परिधि में बांधना उचित ही नही होगा। दिशा निर्देश के लिये स्मिथ के विचार सहायक सिद्व होगें। स्मिथ के अनुसार "राष्ट्रवाद अपने को एक वास्तविक अथवा आकांक्षित राष्ट्र का संघटक मानने वाले किसी सामाजिक समूह के सदस्यों की स्वायत्तता संलाग तथा वैयक्तिकता की उपलब्धि तथा सम्पोषण के लिये वैचारिक आंदोलन है।"[2] स्मिथ ने राष्ट्रवाद के तीन आदर्शो का भी उल्लेख किया है 1. स्वशासी समूह, 2. निश्चित क्षेत्र में समाज बंधन तथा बन्धुत्व और 3. एक पृथक संस्कृति तथा इतिहास। इनमें कभी–कभी एक भाषा के आदर्श को भी जोड दिया जाता है।[3]

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 2
2. एन्थोनी स्मिथ, नेशनलिस्ट मूवमेन्ट्स 1976, पृ0 1
3. वही,

राष्ट्रवाद की मूल धारणा यह है कि शक्ति का स्रोत बनता हो। जब समूह की सर्वोपरि निष्ठा परिवार जाति, मूल, वंश, धर्म आदि से ऊपर उठ कर क्षेत्रीय संगठन के प्रति स्थापित हो जाती है और ये भावना प्रबल हो जाती है कि व्यक्ति अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता इसी सामूहिकता में प्राप्त कर सकता है, तब राष्ट्र का जन्म होता है। समूह के सदस्यों में बधुंत्व की भावना और राष्ट्रीय एकता राष्ट्रवाद के आदर्श है। परन्तु ये बन्धुत्व और एकता बिरले राष्ट्रों में ही देखने को मिलती है। राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव मुख्यतः नगरीय वर्ग तथा शिक्षित वर्ग पर ही पड़ता है। कोई भी समूह राष्ट्र तब बनता है, जब समान्य जनता को राष्ट्रीयता की शिक्षा दी जाती है और लोगो में ये भावना जागृत हो जाती है कि वह एक राष्ट्र हैं। देश मुक्ति और विदेशी शासन से मुक्ति की इच्छा तो स्वाभाविक है, परन्तु राष्ट्रीयता प्रसार–प्रचार द्वारा अंकुरित और प्रोत्सहित भावना है। हेन का कथन उचित ही है कि "राष्ट्रीयता कोई मूल प्रवृत्ति अथवा प्राकृतिक वस्तु नही है। यह कृत्रिम है और प्रचार अथवा कृत्रिम उद्दीपन से ही इसका विकास और प्रसार होता है।"[1]

राष्ट्रवाद के साथ संस्कृति और इतिहास का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। प्रचलित विचार यह है कि राष्ट्रीयता के लिये एक सर्वसमान इतिहास तथा संस्कृति आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्रीय आंदोलन का यह चेतन प्रयास होता है कि समूह का इतिहास और संस्कृति की निरन्तरता न भी हो तो उसकी कल्पना कर ली जाये। वस्तुतः राष्ट्रवाद बहुत कुछ जनभावनाओं को जागृत करने का आन्दोलन होता है। अतः राष्ट्रवाद के लिये मिथक, प्रतीक, मसीहा और इतिहास (यदि वास्तविक न हो तो कल्पित) की अवश्यकता होती है। ध्वज, राष्ट्रगान, राष्ट्रीय पर्व और शहीद राष्ट्र निर्माण की प्रकिया के अंग है। यह प्रक्रिया उन समूहों में विशेष रुप से दिखाई देती है, जहां विभिन्न धर्मावलम्बी, भिन्न भाषावादी, बहुजातीय, बहुल समाजों में साम्राज्यवादी

---

1. त्रिपाठी सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्णदत्त, पूर्वोक्त, पृ0 3

शक्ति के रूप में एक राजनीतिक एकता प्रदान कर देती है और वहां साम्राज्य विरोधी भावना उत्पन्न होने लगती है। साम्राज्य विरोधी शक्तियों उपनिवेश के भौगोलिक क्षेत्र को ही अपनी अस्मिता और वैयक्तितता का केन्द्र बिन्दु मानकर राष्ट्र की कल्पना को जन्म दे देते है। इन समूहों में वास्तविक समस्या तब सामने आती है, जब साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्ति के साथ राजनीतिक सफलता प्राप्त हो जाती है। इसके उपरान्त स्वतंत्रता संग्राम की अवधि में प्रसुप्त पृथकतावादी प्रवृत्तियां उभर आती हैं और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न हो करती है।

राष्ट्रवाद के आदर्शो में समूह की एक भाषा का भी उल्लेख किया जाता है। 19वीं शताब्दी में जर्मनी और इटली को एकता प्रदान कने वाले राष्ट्रीय आंदोलनों में समूह की एक भाषा होने का महत्वपूर्ण स्थल था, परन्तु बहुभाषीय स्विट्जरलैण्ड के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि एक भाषा राष्ट्र की अनिवार्यता नहीं है। वस्तु स्थिति यह है कि एक भाषा–भाषी समुदाय कही पर राष्ट्र निर्माण का आधार रहा है और कहीं राष्ट्रीयता का परिणाम। लैटिन अमेरिका के कई परस्पर विरोधी राष्ट्रों की भाषा एक है। राष्ट्रीयता के लिए आवश्यकता मात्र इसकी होती है कि कतिपय जीवन मूल्यों तथा मान्यताओं के प्रति यदि सामान्यजन की नहीं तो कम से कम शिक्षित वर्ग की सहभागिता हो और पूरे समूह के स्तर पर सम्प्रेषण का एक माध्यम हो।

किसी समूह के विकास क्रम में राष्ट्रीयता का अभ्युदय तब होता है, जब कि समूह अपनी अस्मिता तथा समान बन्धन के लिए धार्मिक, मूलवंशीय, जातीय जैसे परम्परागत आधारों का परित्याग कर अधिक व्यापक आधार खोजना प्रारम्भ करता है। राष्ट्र निर्माण की प्रकिया तब प्रारम्भ होती है, जब किसी सांस्कृतिक विशेषक के आधार पर उस समूह की अस्मिता तथा वैयक्तिकता स्थापित की जा सके। राष्ट्रवाद

का आदर्श यह है कि व्यक्ति की सर्वोपरि निष्ठा इस सामूहिकता में ही हो। इस आत्मनिष्ठ तत्व के अतिरिक्त कुछ वस्तुनिष्ठ तत्व भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायक होते है। राष्ट्रीयता की विचार धारा को व्यवस्थित करने और उसका प्रसार करने के लिए प्रतिबद्ध प्रबुद्ध वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह प्रबुद्ध वर्ग राष्ट्र निर्माण में तब विशेष रूप से सहायक होता है जब इस वर्ग का सहयोग सम्बंध उद्योगपति–व्यवसायी वर्ग से हो जाता है। यूरोपीय देशों में राष्ट्रवाद के विकास में इस पूंजीपति वर्ग की विशेष भूमिका रही है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार राष्ट्रीयता यूरोप में पूंजीवाद की ही देन है।[1] इनके मतानुसार पूंजीवाद एवं उद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप परम्परागत सामाजिक ढांचे ध्वस्त होने लगे और देश व्यापी अर्थ व्यवस्था बन जाने से विभिन्न वर्गो के हितों में संघर्ष उत्पन्न हुआ। इस स्थिति का सामना करने के लिए एक सशक्त विचार धारा और एक सुसंगठित राज्य की आवश्यकता पड़ी। यह ऐतिहासिक सत्य है कि यूरोप के अधिकांश देशों में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद तथा सम्प्रभु राज्य का सामान्तर विकास हुआ है, परन्तु आवश्यक नहीं है कि एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों में भी इसी ऐतिहासिक अनुभव की पुनरावृत्ति हो। विकासशील देशों में मध्यमवर्ग की निंस्संदेह राष्ट्रीयता के वाहक के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका रही है, परन्तु अन्य का विकास क्रम यूरोपीय देशों से भिन्न रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में हम भारत में राष्ट्रीयता के विकास और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया तथा समस्याओं का विवेचन करेगे।

राष्ट्र के निर्माणकारी तत्व

सामान्य दृष्टि से राष्ट्र ऐसे जन समुदाय को कहते है जो राष्ट्रीयता की भावना रखता हो। अतः राष्ट्रीयता की भावना राष्ट्र का केन्द्रीय तत्व है। किन्तु यह

1. वही (उद्धृत) पृ0 2

भावना अनायास अथवा जोर जबरजस्ती से उप्पन्न नहीं होती। इसकी उत्पत्ति का आधार अपने देश के प्रति प्रेम है जो समान्य जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक परम्पराओं में भागीदार होने के फलस्वरुप उत्पन्न होता है। अतः देश राज्य संस्कृति, आत्मीयता और एकता इत्यादि राष्ट्र के मौलिक तत्व है। कार (E.H.carr) ने राष्ट्र के निम्नलिखित निर्णायक तत्वों का उल्लेख किया है। उसके विचार से राष्ट्र की अवधारणा ऐसे मानव समूह के लिये प्रयोग की जाती हैं जिसमें निम्न लिखित विशेषतायें होती है–

1. एक सामान्य सरकार का विचार चाहे वह वास्तव में वर्तमान में विद्यमान हो या भूत काल में ही रही हो अथवा भविष्य की कामना हो।

2. एक जनसंख्या का आकार और उसके समस्त सदस्यों के बीच सम्पर्क की निकटता।

3. न्यूनाधिक निश्चित भू–भाग।

4. कुछ ऐसी विशेषतायें (जिनमें सबसे अधिक प्रचलित भाषा है) जिनके आधार पर किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों या राष्ट्रीयता हीन समूहों से स्पष्ट रुप से पृथक समझा जा सके।

5. वैयक्तिक सदस्यों के कुछ सामान्य हित या स्वार्थ।

6. किसी अंश तक सदस्यों के मन में स्थित सामान्य भावना अथवा इच्छा तथा सदस्यों के मस्तिष्क में अपने राष्ट्र का स्पष्ट चित्र।[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राष्ट्र का निर्माण भूमि, मनुष्य सांस्कृतिक, परम्परा, भाषा, सरकार, आत्मीयता, एकता और राष्ट्रीयता इत्यादि अनेक भौतिक, मानसिक और सांस्कृतिक तत्वों से मिलकर होता है। राष्ट्र और राष्ट्रीय भावना आज के युग की महत्वपूर्ण अवधारणायें हैं। संसार के सभी समुदायों में राष्ट्रीय भावना बढ़

---

1. डॉ0 ओमप्रकाश, (उद्धृत) आधुनिक भारतीय समाज की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन नई दिल्ली, 1998 पृ0स0 –3

रही है और वे निरन्तर राष्ट्रों के रुप में उभर रहे है।

आधुनिक संसार यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीयता की धारणा को महत्व देता है किन्तु विश्व के समस्त देशों में राष्ट्रवाद का विकास हो रहा है। यहां तक की उन देशो में भी राष्ट्रवादी विचार महत्वपूर्ण हो गया है जहां विश्व भर के सर्वहारा वर्ग को एक संजातीय समूह मानकर विभिन्न देशों की कृत्रिम सीमा रेखाओं को तोड़ने के लिये हिंसक क्रान्तियों की वकालत की गयी थी। यह विश्ववादी या अन्तर्राष्ट्रीय भावना आज जिस घिनौनें रुप में प्रदर्शित हो रही है उससें नवीन साम्राज्यवाद की स्थापना की ही गन्ध आती है। विश्व के रंगमच पर अनेक ऐसे राष्ट्रों ने जन्म लिया है जो अभी तक गुलामी का जीवन बिता रहे थे। आज भी साम्राज्यवाद के कुछ अवशेष मुक्ति संघर्ष में लगे हुये है। नवीन राष्ट्रों की उत्पत्ति और विकास राष्ट्रवाद के विकास के कारण ही हुआ है। जब तक किसी समाज में राष्ट्रवाद की भावना का विकास नही होता तब तक वह समाज स्वतंत्र राजनैतिक जीवन की ओर अग्रसर नहीं होता। एशिया और अफ्रीका के जो नये राष्ट्र लम्बे संघर्षो एवं बलिदानों के बाद विकसित हुयें उनमें से अनेकों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता ने भ्रमजाल में डालकर विश्व के कुछ अत्यंत शक्तिशाली परस्पर विरोधी राष्ट्र पुनः अपने परोक्ष नियंत्रण में लेने का प्रयास कर रहे हैं।

राष्ट्रवाद का अर्थ

राष्ट्रवाद का साधारण अर्थ है, राष्ट्र को आधार मानकर चिन्तन और क्रिया करना। जब किसी देश के निवासी अपने देश की भूमि और उससे सम्बंधित सांस्कृतिक तथ्यों को सर्वश्रेष्ठ मानकर अथवा उनके प्रति अगाध श्रद्वा रखते हुये अपने विचारों, भावनाओं और कियाओं का समन्वय करते है तो वे राष्ट्रवादी कहे

जाते है। इस प्रक़ार के राष्ट्रवादी व्यवहार को प्रेरित करने वाली भावात्मक शक्ति को राष्ट्रवाद कहा जा सकता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो अपने राष्ट्र के प्रति अटूट प्रेम ही राष्ट्रवाद हैं।

राष्ट्र किसी जमीन के टुकड़े का नाम नहीं, देश और राष्ट्र ये दोनो समानार्थक शब्द भी नहीं हैं। देश भूमि की परम्परागत अथवा निर्धारित सीमाओं को स्पष्ट करता है। किसी देश की एक विशिष्ट संस्कृति होती है। उस संस्कृति में निहित जीवन शैली के अनुसार उस देश के निवासी अपना जीवन व्यतीत करते हैं। समान आदर्श, समान विश्वास और समान अनुभूतियां उन लोगों के हितों को एक रुप कर देती है। उनके अतीत में जो महत्वपूर्ण घटनायें हुयी हैं, जो महापुरुष उनके इतिहास के निर्माता रहे हैं उनके प्रति लोगों के मन में विशेष श्रद्धा का भाव जन्म लेता है। अपनें अतीत पर, इतिहास पर, महापुरुषों पर और अपने विकास के लिये अपने को ही स्वावलम्बी प्रयत्न पर विश्वास रखते हुये अपने देश के हित की इच्छाओं अपने व्यवहार के द्वारा प्रकट करना, धन, प्रलोभन के सामने राष्ट्र हित को वरीयता देना, देश की निष्काम भाव से सेवा करना अर्थात् प्रतिफल की कामना न करते हुये अपने राष्ट्र के प्रति पूर्ण समपर्ण का भाव रखना, राष्ट्रवाद के कुछ कर संकेतांक कहे जा सकते हैं।

म0स0 गोल्वाल्कर ने अपनी प्रसिद्व कृति "विचार नवनीत" में राष्ट्रवाद की आदर्शात्माक अभिव्यक्ति के रुप में इंग्लैण्ड का एक उदाहरण दिया है। सैकड़ों वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड में जर्मनी के कुछ लोग आकर बस गये थे। उन्हे वहां की नागरिकता प्राप्त थी। 20 वीं0 शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड के सेवक के रुप में उनमें से एक व्यक्ति को मध्य प्रदेश में आई0सी0एस0 (I.C.S.) अधिकारी के रुप में नियुक्त किया गया। अचानक जब सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्व प्रारम्भ हुआ तो इस योग्य

1. वही पृ0 3

अधिकारी को तुरन्त बंदी बनाकर जेल भेज दिया गया।[1] इसका कारण यह था कि जर्मनी और इंग्लैण्ड इस युद्व में एक दूसरे के शत्रु थे। इस जर्मन मूल के अंग्रेज अधिकारी में जर्मनी का प्रेम उत्पन्न न हो जाये, इसी संदेह पर उसे बंद रखा गया।

उपरोक्त उदाहरण यह सिद्व करता है कि एक ही भूमि पर जन्म लेना, निवास करना और उन्नति करना इस बात की गारन्टी नहीं है कि ऐसे सभी लोगों में राष्ट्र के प्रति सम्मान निष्ठा और समपर्ण की भावना विद्यमान है। उत्तम राष्ट्रवाद ही इस निष्ठा और समर्पण की भावना की उत्पत्ति कर सकता है। देश के नवागन्तुकों को वहां मूल नागरिको के अनुरुप अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना राष्ट्रवाद के विकास के लिये आवश्यक है। राष्ट्रवाद वह भावना है, जो देश के प्रत्येक नागरिकों को उसकी सांस्कृतिक परम्परा के साथ जोड़ती है।

किसी राष्ट्र के निर्माण में प्रथम वस्तु एक भूखण्ड है। जो निश्चित प्राकृतिक सीमाओं में आवद्ध हो तथा उसमें रहने वाले लोगों की बुद्धि और समृद्वि का आधार हो। राष्ट्र के लिये दूसरी आवश्यकता उस भू–भाग में रहने वाला समाज है। जो उसके प्रति मातृ भूमि, पितृ भूमि और पुण्यभूमि का पूज्य भाव रखता हो। अर्थात् स्वयं को उस भूमि का पुत्र मानता हो। इस समाज की एक विशिष्ट जीवन पद्धति, सामाजिक आदर्श, समान सांस्कृतिक मूल्य, समान भावनाये और अनुभूतियां जो उसे एक सुव्यवस्थित और संगठित स्वरुप प्रदान करते है, राष्ट्र की तीसरी प्रमुख आवश्यकता है।

पश्चिम में राष्ट्र की कल्पना तब प्रारम्भ हुई जब कुछ जन समुदायों ने किसी प्रकार अपने आप को प्रादेशिक सीमाओं में आबद्ध कर लिया। विशिष्ट प्रदेशों में रहने वाले लोगों के मन में उस भूमि के प्रति यह भावना उत्पन्न हुई कि वह उनका पोषण करती है। अतः उनकी माता है और वह उनके पुत्र हैं। उन्होने अपनी एक विशिष्ट

जीवन पद्धति का विकास कर लिया जो अन्य जन समुदायों से भिन्न थी। इस प्रकार वह स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले सुसंगठित और अविभाज्य समुदाय बन गये। इन समुदायों को ही राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस प्रकार निर्मित अपने राष्ट्र के प्रति अविभाजित श्रद्धा ही राष्ट्रवाद है। राष्ट्रवाद की परिभाषा करते हुऐ गार्नर ने लिखा है "यह आधुनिक राष्ट्रवाद का विशिष्ट लक्षण है की राष्ट्रीयता का निर्माण करने वाले अधिकतर लोग या तो स्वतन्त्र होना अथवा अपनी पसन्द और रचना के राज्य संगठन के आधीन होना चाहते हैं या फिर जहां उन्हें एक ही राज्य में अन्य राष्ट्रीयता या राष्ट्रीयताओं के साथ जोड़ दिया गया है तो एक वृहत् स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते है।"[1] इस दृष्टि से राष्ट्र ऐसा राज्य है जिसमें वहां के निवासियों को स्वतंत्रता पूर्वक अपनी पसंद की शासन व्यवस्था लागू करने का अधिकार होता है। कोहन ने भी राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुये कहा है कि "राष्ट्रवाद एक विचार है, एक शक्ति जो मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय को नवीन विचारों और भावनाओं से भर देती है और अपनी चेतना को संगठित क्रिया के कार्यो में परिणत करने की प्रेरणा देती है।"[2] इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रवाद एक भावनात्मक प्रेरणा है। जो व्यक्ति को सामूहिक प्रयत्न में भागीदार बनाती है। उसे समाज के हित के लिये सबके साथ चलने और कार्य करने के योग्य बनाती है।

राष्ट्रवाद के तत्व

राष्ट्रवाद का प्रमुख तत्व पवित्र मातृ भूमि के लिये प्रबल भक्ति भावना है। राष्ट्र के सम्पूर्ण समाज के साथ साहचर्य और मातृभाव की अनुभूति राष्ट्रवाद का दूसरा तत्व है। राष्ट्रवाद का अन्तिम किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व समाज संस्कृति, समान इतिहास और समान आदर्शो और आकांक्षाओं से उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना है।

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 5
2. वही,

राष्ट्रवाद के निम्नलिखित तत्व महत्वपूर्ण है।

1.एक विशिष्ट भू भाग के साथ लगाव जिसे लोग अपनी पितृ भूमि या मातृभूमि समझते है।

2. एक अपेक्षाकृत सजातीय मानस समूह।

3. एक सामान्य संस्कृति।

4. एक सामान्य भाषा।

5. एक सामान्य विधान (Rule) और प्रतीक जैसे झण्डा, राष्ट्रीय प्रार्थना जो पितृभूमि के प्रति श्रद्वा और राष्ट्र के प्रति व्यक्ति के समर्पण की उत्पत्ति करते है।

6. एक राष्ट्रीय अर्थनीति जो प्रजा की भौतिक समृद्धि पर जोर देती है, नवीन साधनों की प्राप्ति की ओर व्यापार के विस्तार की ओर तथा इनकी प्राप्ति अथवा प्राप्ति के बाद इनकी सुरक्षा के लिये अस्त्र–शस्त्रों की व्यवस्था के निर्माण की ओर अग्रसर करती है।

7. आत्म निर्णय और प्रभुता का सिद्वान्त जो राष्ट्र को राजनैतिक दृष्टि से अन्य राष्ट्रो से स्वतंत्र बनाता है।

राष्ट्रवाद का विकास

राष्ट्र के प्रति निष्ठा और राष्ट्र की रक्षा के लिये त्याग और बलिदान तो प्राचीन काल सें ही प्रचलित रहे है, किन्तु राष्ट्रवाद की अवधारणा की व्याख्या लगभग सोलहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई। मैकियावेली ने इटली में राष्ट्रीय भावनाओं के महत्व पर बल दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से इग्लैण्ड को ही राष्ट्रीयता के विकास का श्री गणेश करने वाला देश माना जाता है। राष्ट्रीय भावनाओ की उत्पत्ति और प्रसार ने इंग्लैण्ड को एक अत्यंत शक्तिशाली समृद्ध और विश्व विजेता देश के रूप

में खड़ा कर दिया। इंग्लैण्ड में राष्ट्रवाद के विकास से प्रभावति होकर यूरोप के अन्य देशों में भी राष्ट्रवाद की लहर चल पड़ी और जर्मनी, फ्रांस, डेनमार्क, पुर्तगाल आदि अनेक यूरोपीय देश सबल राष्ट्रों के रुप में प्रकट होने लगे।

भारत वर्ष में राष्ट्रवाद का विकास तभी से माना जा सकता है। जब से इस देश में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास हुआ। यादि एक विशिष्ट भूखण्ड के निवासियों की एकता और राजनैतिक एकीकरण को राष्ट्रीयता का आधार माना जाये तो अति प्राचीन काल से भारत में राष्ट्रवाद का उत्कर्ष देखा जा सकता है। रामायण काल और महाभारत काल से पूर्व वैदिक काल में भी किसी न किसी रुप में आर्यावर्त के राष्ट्रवादी स्वरुप का परिचय मिलता है। किन्तु ईशा से लगभग 300 वर्ष पूर्व कौटिल्य के काल में तो भारत के राष्ट्रीय स्वरुप का एतिहासिक उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सम्पूर्ण भारत को एक अखण्ड साम्राज्य के रुप में प्रतिष्ठित करने का प्रत्यन किया था। अशोक के समय भारत का राष्ट्रीय स्वरुप प्रकट हो गया था और गुप्त वंश का साम्राज्य राष्ट्रवादी विचार के अनुरूप था।

राष्ट्रीयता का विचार राष्ट्रवाद का आधार है। जब किसी भूखण्ड के निवासी यह समझने लगते है कि वे सब एक हैं और उस भूमि के साथ उनका अटूट नाता है तो उनके मन में राष्ट्रीयता का भाव जागृत हो जाता है। वे उस भूमि को मातृ भूमि और पुण्यभूमि समझने लगते है उसके पर्वतों और नदियों के साथ उनकी जन्मजात आत्मीयता हो जाती है और उस भूमि के पूर्वजो के प्रति उनके मन में श्रद्वा और पूजा का भाव उत्पन्न हो जाता है। वे उस भूमि के लिए अपना सर्वश्व बलिदान करने के लिए हर दम तैयार रहते है। मातृभूमि के लिये त्याग और बलिदान की इच्छा उसको हानि पहुंचाने वालों के प्रति शत्रुता का भाव, और उसकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने का विचार, इनके योग का नाम ही राष्ट्रवाद है। आधुनिक भारत में यह

भावना सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में प्रकट हुई जब भारत माता को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिये भारत के लोगों ने प्राणों की बाजी लगाकर अंग्रेजों से लोहा लिया। तब से भारत की जनता में राष्ट्रवाद का मंत्र फूकने वालों का तांता लग गया।

स्वामी विवेकनन्द ने राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार में विशेष योगदान किया। महर्षि दयानंद, योगी राज अरविन्द आदि धार्मिक गुरुओं ने आध्यात्मिकता के साथ–साथ राष्ट्रीयता के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्वतत्रंता आंदोलन को राष्ट्रवाद की प्रभात फेरी कहा जा सकता है। लोकमान्य तिलक आदि कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने राष्ट्रवाद को स्वतत्रंता आंदोलन का केन्द्रीय तत्व बनाया और महात्मा गांधी, सरदार पटेल, तथा जवाहर लाल नेहरु आदि नेताओं के माध्यम से राष्ट्रवाद भारतीय जनता में फैल गया। नेता जी सुभाषचन्द्र बोस, सरदार भगत सिंह, इत्यादि महान क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के अग्रदूत कहे जा सकते है। राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास में आर्य समाज, कांग्रेस और क्रान्तिकारी नेताओं के अतिरिक्त अन्य संगठनों और व्यक्तियों का भी विशेष योगदान रहा है। एक संस्कृतिक सगठनं होते हुये भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने नवयुवकों में प्रखर राष्ट्रवाद का प्रसार किया।

संसार के इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि जो देश उन्नति के शिखर पर पहुँचे है और जिन्होने अपने परिश्रम और कुशलता से विश्व के प्रथम पंक्ति के देशों में होने का श्रेय प्राप्त किया है, वह सब राष्ट्रवाद के आधार पर आगे बढ़े है। उत्कट राष्ट्रभक्ति के कारण ही मुट्ठी भर अंग्रेज समूची पृथ्वी के शासक बन गये थे। राष्ट्रवादी भावनाओं ने अमरीका को विश्व का सर्वशक्ति शाली देश बना दिया। राष्ट्रवाद के विचार को प्रतिक्रिया वादी घोषित करने वाले रुस देश ने भी

विश्व में हिटलर के भंयकर प्रकोप का सामना करने के लिये अपने देशवासियों को राष्ट्रवाद के नाम पर ही तैयार किया था। भारत में राष्ट्रवादी भावनाओं को संगकीर्णता और सकुंचित दृष्टिकोण से सम्बन्धिंत बताने वाले अधिकांश वे लोग है जो विदेशियों के सहारे पल रहे हैं। जो लोग भारत को एक सबल राष्ट्र के रुप में उभरते हुये नहीं देखना चाहते वे ही राष्ट्रवाद का विरोध करते है।

राष्ट्रवादी सिद्धान्त

आधुनिक युग में नित्य नवीन राष्ट्रो का उदय हो रहा है। प्रत्येक देश में वहां की परिस्थितियों के अनुरूप राष्ट्रवाद की उत्पति और विकास हो रहा है राष्ट्रवाद के विकास के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्वान्तों का प्रतिपादन किया गया है–

1. धार्मिक सिद्धान्त– राष्ट्रवाद का विकास किसी विशिष्ट धर्म के प्रगाढ़ आस्था के कारण होता है। यदि किसी समाज के सदस्य अपने विशिष्ट धर्म की रक्षा और प्रसार की इच्छा रखते हैं तो राष्ट्रवादी भावनाओं के द्वारा के अपने धर्म के लिये बलिदान होने की प्रेरणा प्राप्त करते है। राष्ट्रवाद का विकास धर्म के नाम पर होता है। अरब राष्ट्रो में धर्म के आधार पर राष्ट्रवाद का विकास हुआ। इजराइल की प्रखर राष्ट्रवादिता तो केवल धर्म के संरक्षण के आधार पर ही विकसित हुई है। पाकिस्तान धर्म के आधार पर निर्मित हुआ है 'इस्लाम के लिये खतरा' या इस्लाम का विकास के नारे देकर ही वहां के शासक जनता में राष्ट्रवाद का प्रसार करते रहे है। धार्मिक सिद्धान्त का ज्वलन्त प्रमाण इस समय ईरानी राष्ट्रवाद में मिलता है ईरान में चाहे 'मजाहिदीन' हो या 'खुमैनी' की क्रान्तिकारी सेना सब इस्लाम के नाम पर राष्ट्रवादी भावनाओं को उत्तेजित कर रहे है। वहां धर्म ने ही

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 8

राष्ट्रवाद को जन्म दिया है।[1]

2. सांस्कृतिक सिद्धान्त– राष्ट्र के निर्माण में किसी विशेष भूखण्ड में रहने वाले निवासियों की सांस्कृतिक एकता का बहुत महत्व होता है। राष्ट्रीय एकता का मुख्य आधार सांस्कृतिक एकता है। एक विशेष देश में यदि एक विशिष्ट संस्कृति की प्रधानता होती है तो उस देश के निवासी उसके संरक्षण के लिये राजनैतिक दृष्टि से एकता का विकास कर लेते है। इस राजनैतिक एकता को हम राष्ट्रवाद कह सकते है। भारत की सांस्कृतिक विविधता भी इसकी राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न कर देती है। दूसरे देशों की संस्कृति को आदर्श मानने वाले लोगों में राष्ट्रवादी भावनायें उतनी मजबूती के साथ नही पनप सकती । पूर्वी पाकिस्तान इस्लाम धर्म का प्रभुत्व होते हुये भी बंगाल की संस्कृति पंजाब सिध तथा पश्चिमी पाकिस्तान के अन्य क्षेत्रो से पृथक थी। इस लिये वहां बंगला राष्ट्रवाद का उदय हुआ और जिसके फलस्वरुप बांग्लादेश बन गया।

3. उदारवादी सिद्धान्त– उदारवाद की लहर ने यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद को जन्म दिया है जनतंत्र की धारणा में राष्ट्रवाद का आधार मानने वाले विद्वानो का विचार है कि व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा आवश्यक है। उसी के द्वारा समाज की प्रगति होती हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही मुख्य वस्तु है। समानता स्वतन्त्रता और बधुंत्व के विकास से ही देश का विकास हो सकता है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के फलस्वरुप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समानता के विचारों का विकास हुआ और इन भावनाओं ने राष्ट्रीयता और राष्ट्रभक्ति के गुणों को जन्म दिया। लोकतन्त्र के विकास ने राष्ट्रवाद को काफी सीमा तक प्रभवित किया है। अतः उदारवाद को राष्ट्रवाद का मुख्य कारण माना जाता है।

---

4. राजनैतिक सिद्धान्त– किसी भूखण्ड के निवासियों की राजनैतिक स्वतन्त्रता, उन्हे उस प्रदेश को अपनी मातृभूमि समझने की प्रेरणा देती है। देश की राजनैतिक सीमाओं के साथ उसमें रहने वालों का आन्तरिक प्रेम तभी अधिक बढ़ता है। जब वे उसमें अपनी इच्छाओं और मान्यताओं के अनकूल राजनैतिक व्यवस्था स्थापति करने का अधिकार रखते है। राजनैतिक प्रभु सत्ता राष्ट्रवाद के विकास में बहुत सहायक होती है। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ही अनेक अफ्रेशियाई देशों में राष्ट्रवाद का विकास हुआ। भारत में राष्ट्रवाद के विकास का मुख्य कारण अंग्रेजी शासन से राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था स्वतन्त्रता आन्दोलन और राष्ट्रवाद का विकास दोनो साथ– साथ चलने वाली प्रक्रियाऐं थी।

5. एकाधिकार का सिद्धान्त– राष्ट्रवाद के विकास में जर्मनी का नाम विशेष रुप से लिया जाता है। जर्मनी मे हिटलर के समय में उग्र राष्ट्रवाद की भावनाऐं विकसित हुई। एकाधिकार सिद्धान्त के समर्थको का मत है कि राष्ट्र ही सर्वोच्च शक्ति है, व्यक्ति गौण है। व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र के अस्तित्व में निहित है। राष्ट्र की प्रगति होती है तो व्यक्ति की प्रगति होती है। राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए व्यक्ति को सदैव अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। व्यक्तिगत अधिकारों की अपेक्षा व्यक्ति को राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों को महत्व देना चाहिए। जर्मनी के लोगो में यह विश्वास पैदा किया गया वे संसार के अन्य सभी लोगों से श्रेष्ठ हैं, और उन्हें विश्व पर शासन करने के लिए ही उत्पन्न किया गया है। यह एकाधिकार का सिद्धान्त व्यक्तियों की समानता और स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि देश के प्रति अन्ध श्रद्धा

और बलिदान की भावना राष्ट्रवाद को जन्म देती है।

वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई एक कारण राष्ट्रवाद के विकास का एकमात्र सहायक तत्व है। विभिन्न देशों की राजनैतिक परिस्थिति, सांस्कृतिक व्यवस्था, धर्म और समाजिक मान्यतायें राष्ट्रवाद के विकास को प्रभावित करने वाले तत्व है।

राष्ट्रवाद के प्रकार्य

1. राष्ट्रवाद का विकास किसी देश के निवासियों में देश भक्ति की वृद्धि करता है। अपने राष्ट्रके प्रति अगाध भक्ति रखने वाले लोग देश हित में हर प्रकार का बलिदान करने को तैयार हो जाते है

2 राष्ट्रवाद देश की रक्षा में सहायक होता है, राष्ट्रवादी भावनाओं से युक्त समाज के लोग हर कीमत पर अपने देश की रक्षा करते है। राष्ट्रवादी भारतीय सैनिकों की अल्प शक्ति ने सन्–1965 और 1971 के भारत पाक युद्धो में अमरीकन शस्त्रास्त्रों से लैस पाकिस्तान की वृहत सेना को भी आत्म समर्पण के लिए मजबूर कर दिया था।

3 राष्ट्र की प्रगति के लिए भी राष्ट्रवाद बहुत सहायक तत्व है। राष्ट्रवादी भावनाओं से प्रेरित व्यक्ति निरन्तर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते है। कि उनका देश संसार में सर्वश्रेष्ठ बने, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हर सम्भव परिश्रम और त्याग करते हैं उनका परिश्रम और त्याग देश की प्रगति में सहायक होता है।

4 राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता में भी सहायक होता है। राष्ट्र के प्रति जागरुक लोग जाति धर्म और क्षेत्र के आधार पर विभजित होकर संकीर्ण विचारों से ग्रस्त नहीं

होते । वे राष्ट्र हित के लिये इन छोटे– छोटे हितों को बलिदान कर देते हैं। अतः उनमें जातिगत और सम्प्रदायिक भेद भाव अधिक तीव्र नहीं होते। वे राष्ट्रीय सन्दर्भ में इनका समन्वय और समायोजन कर लेते है इस प्रकार राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता में सहायक है।

5 राष्ट्रवाद 'जियो और जीने दो' के विचार को पुष्ट करता है। अपने राष्ट्र की उन्नति के लिये प्रयत्न करते हुये भी राष्ट्रवादी लोग अन्य राष्ट्रो का सम्मान करते है। राष्ट्रवाद साम्रज्यवाद का विरोधी है। राष्ट्रवाद सह–अस्तित्व का विकास करता है।

6 राष्ट्रवाद जहां बाहरी शक्तियों से स्वदेश रक्षा पर बल देता है, वहीं देश के आन्तरिक जीवन को शुद्ध और सुचिता पूर्ण बनाने में इसका महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत में आज जो भ्रष्टाचार, शोषण और अन्य अवांछनीय कार्यो की वृद्धि हो रही है, उसका मूल कारण राष्ट्रीय विचार का अभाव ही है। राष्ट्रवाद के विकास से प्रत्येक व्यक्ति हर समय राष्ट्रीय हित का ध्यान रखता है। वह ऐसे आचरण से दूर रहता है जो राष्ट्र के लिये घातक या उसकी बदनामी में सहायक हो। बड़े–बडे नेता या सामान्य नागरिक जब अपने या अपने परिवार के अथवा जाति और सम्प्रदाय के हित को राष्ट्र हित से अधिक महत्व देने लगते है तो भ्रष्टाचार, अनैतिकता, शोषण और अन्य देशों की गुलामी भी देश को सहन करनी पड़ती है। राष्ट्रवाद इन विपत्तियों और दोषों की एक मात्र अचूक औषधि है।

साम्प्रदायिकता और अल्पसंख्यको की समस्या

1857 ई0 के विद्रोह की विफलता के उपरान्त भारत की मुसलमान जनता में

निराशा की भावना और संकुचित हो जाने की प्रवृत्ति उपन्न हो गयी थी। 19वी0 शताब्दी के अन्त तक अंग्रेज शासक भी मुसलामानों को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे, जिसके कारण मुसलमानों में यह अनुभूति होने लगी कि शासन की ओर से उनको यथोचित अधिकारों से वंचित किया जाता है कुछ ऐतिहासिक कारणों से मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत कम हुआ जिसके कारण मुसलमान राजकीय सेवाओं, व्यापार और उद्योग में हिन्दुओं से पीछे रह गये। अभिजात्य मुसलमान वर्ग ने धर्मिक भावना भड़का कर यह धारणा भी उत्पन्न कर दी कि मुसलमान इस देश के विजेता और शासक रहे हैं। इससे पृथकतावाद की प्रवृति का जन्म हुआ। इस प्रवृत्ति की वृद्धि के लिये उपयुक्त वातावरण तब मिला जब हिन्दू नेतृत्व का एक वर्ग 19वीं– 20वीं शताब्दी के संक्रमण काल में आध्यात्मिक पुनर्जागरण और हिन्दू राष्ट्रीयता पर बल देने लगा। इसके अतिरिक्त मुसलमानों के शैक्षणिक, आर्थिक, पिछड़े पन के कारण हिन्दुओं से हित संघर्ष होता था।[1] यह हित संघर्ष किसी स्थान पर हिन्दू जमींदार बनाम मुसलमान किसान और किसी स्थान पर हिन्दू महाजन बनाम मुसलमान ऋणी के स्वरुप में न उभरता था। इसको साम्प्रदायिक जामा पहनाया मुसलमानों के सम्पन्न वर्ग ने जो ब्रिटिश शासकों का समर्थक था, जिसका निहित स्वार्थ इसी में था कि मुसलमानों में पृथकतावादी भावना बनी रहे और सहधर्मियों पर नियंत्रण उन्ही के हाथों में रहे।[2] जब 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कांग्रेस शासन विरोधी नीति अपनाने लगी तो प्रतिकार के रुप में ब्रिटिश शासकों ने मुसलमान अभिजात्य वर्ग को संरक्षण देना प्रारम्भ किया और 'विभक्त करो शासन करो' की नीति के अन्तर्गत पृथकतावादी प्रवृत्ति को प्रोत्सहित किया।

1909 के मिन्टो–मार्ले सुधारों ने मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन का प्रावधान कर के पृथकतावाद को औपचारिक रुप में राजनीति में प्रवेश करा दिया।

---

1. त्रिपाठी डॉ0 सत्येन्द्र द्विवेदी, डॉ0 कृष्णदत्त, पूर्वोक्त, पृ0स0– 23

2. वही (उद्धत) पृ0स0 – 4

सामान्य धारणा के अनुसार तत्कालीन वाइसराय के निर्देश पर आगा खां के नेतृत्व में वाइसराय से मिले मुस्लिम शिष्टमण्डल के अनुरोध पर ही पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गयी थी।[1] इस नीति के अन्तर्गत "सम्प्रदायों वर्गो तथा हितों" के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये। ब्रिटिश दृष्टिकोण से इस निर्णय का औचित्य यह था कि भारत एक समष्टि इकाई न होकर विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों, वर्गो आदि का भौगोलिक समूह था। इन सब के अलग हित थे अतः इनकों अलग प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिये। साम्राज्यवादियो द्वारा किये गये इस बीजारोपण का परिणाम दो दशको के अन्दर सामने आ गया।

शासन की विभाजन करने की नीति के उपरान्त भी मुसलमानों का संगठन मुस्लिम लीग तीसरे दशक के प्रारम्भ तक राष्ट्रवादी रही। 1914 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनो के अधिवेशन लखनऊ में हुये और कांग्रेस में कई प्रमुख नेताओं ने लीग के अधिवेशन में भाग भी लिया। लीग की राष्ट्रीयता का ये भी उदाहरण है। कि आगा खां ने लीग की राष्ट्रीयता की नीति के विरोध में त्याग–पत्र दे दिया। इस हिन्दू मुस्लिम एकता को और अधिक पुष्ट करने के लिये गांधी ने खिलाफत आंदोलन चलाया जिसमें हिन्दू और मुसलमानों दोनो ने भाग लिया।

1922 ई0 में असहयोग आंदोलन की समाप्ति और तुर्की के नये शासकों द्वारा खलीफा का पद समाप्त करने के उपरान्त हिन्दू मुसलमान एकता के अध्याय का अन्त हो गया । इसी बीच मालावार में हिन्दुओं को बलात इस्लाम में धर्म परिवर्तन की प्रतिकिया स्वरुप आर्य समाज ने शुद्दि करण आन्दोलन चलाया। प्रत्युत्तर में मुसलमानों की ओर से तब लीग–ए–इस्लाम और तन्जीम का संगठन हुआ। जमैतुल उलेमा ने इन दोनो संगठनों का समर्थन किया। हिन्दू मुसलमानों में तनाव के परिणाम स्वरूप 1924–25 में देश के कई नगरों में साम्प्रदायिक दंगे हुए। प्रतिक्रिया

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 25

स्वरूप कांग्रेस नेतृत्व का एक वर्ग धर्म निरपेक्षता के सिद्वान्त को त्याग कर हिन्दू राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगा। इस परिस्थिति में हिन्दू महासभा भी सक्रिय हो गयी। मोतीलाल नेहरू जैसे हिन्दू मुसलमान एकता के पक्षधर नेताओं की कांग्रेस के अन्दर आलोचना होने लगी इस घटनाक्रम ने कांग्रेस के साम्प्रदायिक एकता पर आधारित राष्ट्रवाद की अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया।

दो राष्ट्रों को सिद्धान्त

1930 तक मुसलमान भारत में ही हिन्दुओं के साथ एक राष्ट्र के रूप में ही अपने भविष्य की कल्पना करते थे। जिन्ना के 14 सूत्रीय कार्यक्रमे में भी हिन्दुओं के साथ सत्ता में सहभागिता की बात थी। विवाद केवल मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व देने और उनके हितों को संरक्षण देने के प्रश्न पर था। 1930 में इकबाल ने सर्वप्रथम दो राष्ट्रों के सिद्वान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्वान्त के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दो पृथक राष्ट्र थे और इन दोनों सम्प्रदायों में कोई सावयवी एकता नहीं थी। 1933 में चौधरी रहमत अली ने और स्पष्ट रुप से पाकिस्तान का नाम देकर दो राष्ट्रों के सिद्वान्त का प्रतिपादन किया।[1]

1937 में निर्वाचन के उपरान्त जब सत्ता में सहभागिता के प्रश्न पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता नहीं हो पाया और अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस ने मन्त्रिमंडल का निर्माण किया तो मुस्लिम लीग ने कांग्रेस शासित प्रान्तों में मुसलमानों पर अत्याचारों के विषय में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। तथाकथित अत्याचारों पर भी कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु इस प्रचार से मुसलमानों में यह आशंका व्याप्त हो गयी कि हिन्दू बाहुल्य शासन में उनका भविष्य सुरक्षित नहीं है।

1939 में विश्व युद्व प्रारम्भ होते ही कांग्रेस मन्त्रिमंडल ने त्याग पत्र दे दिया

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 25

और ब्रिटिश शासन ने कांग्रेस की उपेक्षा करके मुस्लिम लीग को प्रश्रय देना प्रारम्भ कर दिया। तेजी से परिवर्तित होते हुए राजनीतिक वातावरण में मुस्लिम लीग ने 1940 में अपने लाहौर अधिवेशन में औपचारिक रुप से पाकिस्तान की मांग उठा दिया। इस आशय के प्रस्ताव में कहा गया था कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक राष्ट्र हैं इसलिए मुसलमानों को भारत के मुसलमान बहुल क्षेत्रों में एक पृथक देश में अपनी नियति निर्धारित करने का अधिकार हैं।[1] लीग की यह मांग सात वर्ष के अन्दर तब पूरी गयी, जब 1947 में भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम ने ब्रिटिश भारत का विभाजन कर के मुसलमान बहुल क्षेत्रों में पाकिस्तान के नाम से एक स्वायत्तशासी डोमिनियन की स्थापना कर दी। इस प्रकार राष्ट्रवादियों का पिछले सात दशकों का प्रयास विफल हो गया। घटना क्रम की त्वरित गति के कारण संभवतः विभाजन अपरिहार्य हो गया था, परन्तु इसने भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या का अन्त नहीं किया। बड़ी संख्या में मुसलमान विभाजन के उपरान्त भी भारत में रह गये थे, और अल्प संख्यकों की समस्या राष्ट्र निर्माण के लिए आज भी चुनौती बनी हुई है।[2]

भारतीय राष्ट्रीयता का वर्तमान चरित्र और समस्याएं

भारत की राष्ट्रीयता का वर्तमान चरित्र और समस्याएं देश के विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास क्रम की देन है। प्रारम्भिक चरण में राष्ट्रीयता पुनरुत्थानवादी थी। उस समय जन जागृति और चेतना के लिए संभवतः अतीत पर बल देना आवश्यक भी था। राष्ट्रीय आन्दोलन के संस्थागत होने के उपरान्त राष्ट्रीयता के लिए यूरोपीय उदारवादी आधार सामने आया। पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों को राष्ट्रीयता के साथ जोड़नें में

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 25
2. वही,

असफल थी और उदारवादी विचारधारा केवल शिक्षित वर्ग को ही प्रभावित करती थी, सामान्यजन को आकर्षित करने में यह पूर्णतया विफल थी। गांधी ने इन दोनो के स्थान पर एक नया कार्यक्रम दिया। यह सामान्यजन और विशेष रुप से ग्रामीण जनता को राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास था। नेहरु तथा अन्य वामपन्थी इस कार्यक्रम से सन्तुष्ट न थे और राष्ट्रीयता का एक आधुनिक तर्क बुद्धिवादी तथा समाजवादी आधार चाहते थे।

भारतीय राष्ट्रीयता की विषय वस्तु निर्धारण को उपर्युक्त सभी धाराओं ने प्रभावित किया। विकास–क्रम में ये विचारधाराएं परिस्कृत होती गयीं और इनके संश्लेषण ने राष्ट्रीयता को वर्तमान आधार प्रदान किया है। इस सन्दर्भ में नेहरु के दो महत्वपूर्ण योगदान रहे है एक तो नेहरु ने यह विचार प्रतिपादित किया कि सामाजिक–आर्थिक न्याय पर आधारित व्यवस्था ही राष्ट्रवाद को अर्थवान बना सकती है। दूसरा महत्वपूर्ण योगदान भारतीय राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय धाराओं से जोड़ने का था। भारतीय राष्ट्रवाद की विषय वस्तु परिभाषित करने में नेहरु ने परम्परा की उपेक्षा नहीं की। नेहरु ने यहां तक कहा है कि "राष्ट्रवाद मूलतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं तथा अनुभवों की सामूहिक स्मृति है।"[1] परन्तु नेहरु धार्मिक सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी विचारधारा के समर्थक नहीं थे। अतीत के प्रति अन्धभक्ति की प्रवृत्ति की नेहरु ने भर्त्सना की, परन्तु अतीत में जो "जीवन्त और प्राणदायक" था उसको आत्मसात करने का उन्होंने आहवान किया। उनके अनुसार वर्तमान और भविष्य का निर्माण अतीत की आधारशिला पर ही हो सकता है और अतीत की उपेक्षा से राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हो जायगा। परन्तु भारत के अतीत की जिन विशिष्टताओं को नेहरु अपनी गौरवशाली थाती मानते हैं वह है "भारतीयों की जिज्ञासु भावना तथा मानसिक साहस, साहित्य कला तथा संस्कृति की वैभवशाली

---

1. नेहरू, जवाहरलाल, डिस्कवरी आफ इण्डिया, 1956, चतुर्थ संस्करण, पृ0 328

उपलबिधयां, सत्य, सौन्दर्य तथा स्वतंत्रता के प्रति प्रेम, उनके द्वारा निर्धारित जीवन मूल्य, उनका जीवन के रहस्यों का ज्ञान, अन्य लोगों के प्रति सहिष्णुता, अन्य लोगों को तथा उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों को आत्मसात और संश्लेषित करने और एक विविधतापूर्ण तथा मिश्रित संस्कृति विकसित करने की क्षमता।[1] नेहरु के अनुसार भारत वास्तव में भारत नहीं रहेगा यदि वह अपनी इस ऐतिहासिक थाती को भूल जाता है। नेहरु द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीयता का प्रारुप स्वतंत्रता पूर्व से बौद्धिक वर्ग का आदर्श बन गया। इसमें भारतीय सांस्कृतिक इतिहास पर बल दिया गया है परन्तु यह पुनरुत्थानवादी नहीं है। इसमें भारत के गौरवशाली इतिहास का सार तथा तत्व है, परन्तु यह धर्मनिरपेक्ष है। इसमें पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा तथा समाजवाद का भी समन्वय है। अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के प्रति स्वाभिमान पर आधरित होते हुए भी यह विचारधारा संकीर्णता को प्रोत्साहित नहीं करती अपितु अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बन्धित है।

नेहरु ने भारतीय राष्ट्रीयता के लिए एक आधुनिक, तर्क बुद्विवादी समन्वयवादी तथा वैज्ञानिक आधार दिया। बौद्धिक स्तर पर अकाटय होते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर इसको समाज में विद्यमान प्रतिकूल प्रवृत्तियों, मानसिकताओं तथा हितों का सामना करना पड़ा। सबसे अहम समस्या सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषाई अल्प संख्यकों की थी। यह समस्या देश के विभाजन के उपरान्त भी राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में अवरोध उपस्थित करती रही है। वस्तुतः अल्पसंख्यकों की समस्या भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक विकास क्रम में निहित है। जैसा कि कतिपय मार्क्सवादी तथा अन्य यूरोपीय विद्वानों ने कहा है कि "अल्पसंख्यकों की समस्या पूरे देश में आर्थिक, सांस्कृतिक एकरुपता स्थापित होने के पूर्व ही केन्द्रोन्मुख राज्य की स्थापना हो जाने पर उठती है। यह समस्या उन देशो में नहीं उठी, जिनमें केन्द्रोन्मुख राज्य की

---

1. वही, पृ0 522

स्थापना के पूर्व ही पूंजीवादी विकास के परिणास्वरुप पूरे देश में एक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना हो गयी और पूरा देश एक सांस्कृतिक इकाई बन गया।''[1] भारत में विदेशी शासन के विरूद्ध सफल आन्दोलन के उपरान्त भारत में केन्द्रोमुख राज्य की स्थापना तो हो गयी, परन्तु आर्थिक समेकन अभी तक पूर्ण रुप से नहीं हुआ है। भारत में अल्पसंख्यकों की वर्तमान समस्या का यह प्रमुख कारण है।

अल्पसंख्यको की समस्या कुछ सीमा तक ब्रिटिश नीतियों का भी परिणाम है। यह सर्वमान्य है कि भारत में राष्ट्रवाद की चेतना का प्रसार अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी विचारधारा द्वारा हुआ, परन्तु अंग्रेजी शिक्षा तथा विचारधारा का प्रभाव देश के सभी भागों में समान रुप से नहीं पड़ा। यह प्रारम्भ में तटवर्ती महानगरों के क्षेत्र में कुछ विशेष जातियों तक ही सीमित था। आर्थिक विकास कुछ सीमित क्षेत्रों में ही हुए। अन्य क्षेत्रों और जातियों में चेतना तब उत्पन्न हुई, जब यथेष्ट अन्तराल के उपरान्त शिक्षा का प्रसार यहां भी हुआ। विलम्बित शिक्षा प्रसार के कारण तथा अपेक्षाकष्त पिछड़ेपन के प्रति चेतना के कारण पृथक राष्ट्रीयताओं का अभ्युदय हुआ। उदाहरणार्थ मुसलमान, सिख, अनूसूचित जाति, ब्राह्मणेत्तर, तेलंगाना, विदर्भ आदि। जातीय सभाओं और क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य ने इनमें योगदान दिया। भाषाई प्रान्तों की मांग उसी चेतना की अभिव्यक्ति थी।[2]

कांग्रेस की स्वतन्त्रता पूर्व की नीति के अनुसार इन भाषाई इकाइयों को मान्यता दी गयी। ये प्रान्त अपनी वैयत्तिकता की पृथक मान्यता अवश्य चाहते थे, परन्तु पृथक राष्ट्र नहीं चाहते थे। जहां तक ये प्रान्त अपने भाषाई तथा सांस्कृतिक विकास के लिए अपने पृथक इकाई के रुप में मान्यता चाहते हैं, इनका राष्ट्रीयता के विकास से कोई विरोधाभास नहीं है। समस्या तब आती है जब इन क्षेत्रों के राजनीतिज्ञ सत्ता प्राप्ति के लिए, शिक्षित वर्ग राजकीय सेवाओं में चयन में स्पर्धा

---

1. त्रिपाठी सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्णदत्त, पूर्वोक्त, पृ0 27

1. वही (उद्धृत) पृ0 27

सीमित करने के लिए और उद्योगपति–व्यापारी बाजार पर अपना एकाधिकार स्थापित करने के लिए क्षेत्रीय भावना का उपयोग सामान्य जनता में बाहरी लोगों के प्रति घृणा–द्वेष फैला कर अलगावबादी प्रवृत्तियों को जागष्त करने के लिए करते है।

विदेशी शासन के विरुद्ध भावना तो सर्वत्र समान रुप से प्रसारित हो गयी थीं, परन्तु भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति प्रतिबद्धता विदेशी शासन से मुक्ति के उपरान्त भी पूर्ण रुप से स्थापित नहीं हो सकी। 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग ने ठीक ही कहा था कि "भाषाई समरुपता पर केन्द्रित सांस्कृतिक क्षेत्रवाद एक सामान्य भारतीय को अधिक बोधगम्य अवधारणा प्रतीत होती है। इसके विपरीत भारतीय राष्ट्रवाद को सकारात्मक अवधारणा के रुप में अभी भी विकसित होना है।[1]

आर्थिक–सामाजिक विकास के पूर्व ही प्रजातंत्र की स्थापना से भी समस्याएं उत्पन्न होती है। राष्ट्रवाद के विकास में एक ओर तो प्रजातांत्रिक प्रक्रिया सहायक हैं, परन्तु एक विकासशील देश में इससे राष्ट्रीय विकास में बाधायें भी उत्पन्न होती हैं। निर्वाचन की राजनीति के कारण अल्पसंख्यकों में अपने को पृथक रुप से संगठित करने की प्रवृत्ति बलवती होती है और अल्प–संख्यकों में विश्वास का संकट भी उत्पन्न होता है। बहुसंख्यकों में यह भावना जागृत होती है कि उनके हितों का बलिदान कर के अल्पसंख्यकों का तुष्टीकरण किया जा रहा है। कुछ समस्याएं जनतंत्र के क्रमिक स्थापना के कारण भी हैं। अधिकारों के प्रति चेतन हो जाने के कारण यह वर्ग किसी का वर्चस्व स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इस समय देश में हो रहे बहुत–से स्थानीय संघर्षो का यही कारण है।

ये समस्याएं इतनी गम्भीर न होतीं यदि देश में निश्चित आर्थिक राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित राजनीतिक दलीय व्यवस्था विकसित हो जाती। सुव्यवस्थित दलों के अभाव में व्यक्ति अपने हितों की रक्षा के लिए जाति, धर्म सम्प्रदाय, क्षेत्रीयता

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 27

आदि पर आधारित संगठनो को वरीयता देता है। स्पर्धा की राजनीति में अन्य दल भी इन आधारों से अप्रभावित नहीं रह पाते हैं।

वर्तमान स्थिति का सार यह है कि ब्रिट्रिश शासन काल में हुए विषम आर्थिक तथा शैक्षणिक विकास, तत्कालीन शासन द्वारा अलगाववादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन की नीति, आर्थिक विकास के पूर्व प्रजातन्त्र की स्थापना, आर्थिक–सामाजिक कार्यक्रम पर आधारित राजनीतिक दलों का विकास न होने और अभावग्रस्त अर्थव्यवस्था में स्पर्धा की राजनीति आदि के कारण विभिन्न जातीय, क्षेत्रीय भाषाई साम्प्रदायिक समूहों में ऐसी मानसिकता बन गयी है, जो राष्ट्रीयता के विकास में बाधक है।[1] स्वतन्त्रता संग्राम की अवधि में ये प्रवृत्तियां छिपी हुई थीं परन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त ये उभर कर सामने आ गयी हैं। परिणामस्वरुप राष्ट्रीय संघठन देश के सामने प्रथम वरीयता है। राष्ट्रीय संघठन इस धारणा पर आधरित है कि समाज में एकता भी है और विविधता भी। यदि विविधता नहीं है तो संघटन की आवश्यकता ही नहीं है और यदि मात्र विविधता है तो संघटन सम्भव नहीं हैं यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारत जैसे विशाल देश में पूर्ण एकरुपता न सम्भव है, न वांछित। आवश्यकता इस बात की है कि समाज में विभिन्न घटकों के बीच एक क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाय और व्यक्ति की सर्वोपरि निष्ठा जाति, धर्म, भाषाई, समूह से ऊपर उठ कर आधुनिक प्रजातान्त्रिक तथा क्षेत्रीय घटक के प्रति हो जाय। यह निःसन्देह एक आत्मनिष्ठ भावना है, परन्तु यह भावना विशेष वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों में ही बलवती होती है सामाजिक–आर्थिक न्याय पर आधारित प्रजातंन्त्र, आर्थिक विकास आदि इस परिस्थितिं के मुख्य अवयव हैं। राष्ट्रीय संघठन एक लम्बी तथा वेदनापूर्ण प्रकिया है, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व से ही प्रारम्भ हो गयी थी, परन्तु इस दिशा में अभी भी सतत् प्रयास की आवश्यकता है।

---

1. वही (उद्धृत) पृ0 28

चूंकि धर्म भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है अतः इस एकरूपता की प्रवृत्ति इसी के परिवेश में हो तो परिणाम स्थायित्व भरे हो सकतें हैं। बौद्ध धर्म में डॉ० अम्बेडकर का अतिशय विश्वास इसी तथ्य का प्रकटीकरण है। जिसका प्रस्तुत शोध प्रबंध में मूल्यांकन किया गया है।

****

अध्याय – 3

भारत की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

- भारतीय संस्कृति का स्वरूप
- संस्कृति और धर्म
- भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्य
- भारतीय संस्कृति एवं समाज
- भारतीय संस्कृति की विशेषतायें
- भारतीय सामाजिक संस्कृति का मानव कल्याण में योगदान
- भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रवाद

भारत की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

मानव समाज द्वारा अपने विकास काल से अब तक जो समस्त आचार व्यवहार ग्रहण किया गया है एंव उनके द्वारा सीखा गया समस्त व्यवहार ही संस्कृति है। आदिम मानव से लेकर आज तक मानव ने रहन–सहन, आचार व्यवहार, धर्म आध्यात्म आदि से सम्बन्धित जिन मान्यताओं को परम्परा रुप में अर्जित एवं प्रचारित किया है वे ही संस्कृति के मूल उपादान अथवा तत्व है। ये उपादान परम्परा रुप में अविच्छिन्न चलते रहते हैं तथा आदर्शो की प्रतिष्ठा करते रहते है। इसी विशेषता के कारण संस्कृति को ऐसा सनातन तत्व माना गया है जो व्यक्तिनिष्ठ न होकर समाज निष्ठ बौद्धिकता का परिचायक है इस तरह संस्कृति किसी देश के जातीय जीवन द्वारा सदियों से किये गये आचारात्मक कार्यकलापों का परिणाम है। किसी जाति अथवा समाज के महापुरुषों के विचार, कार्य वचन, व्यवहार आदर्श एवं उनके द्वारा स्थापित परम्परायें ही निरंतर प्रचलित रहने से उस जाति अथवा समाज की संस्कृति का निर्माण करती है। प्रत्येक विशिष्ट समाज अथवा भौगोलिक परिवेश से आबद्ध देश की संस्कृति अपने देश काल की सीमाओं से अपना अलग अस्तित्व सूचित करती है। इस कारण संस्कृति किसी समाज–विशेष या देश विशेष की परिचायक भी मानी जाती है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति को देखा जा सकता हैं इसमें भारतीय जन–जीवन के समस्त तत्वों के साथ धर्म–दर्शन कला–कौशल, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों आदि की सनातन परम्परायें आर्य–संस्कृति की परिचायक हैं तथा इन सभी से भारतीय संस्कृति की महनीयता, जीवन्तता एंव प्राचीनता का परिज्ञान हो जाता है।

मानव के जीवन पर संस्कृति का विशेष प्रभाव पड़ता है इसको विस्तृत रुप से समझने के लिये विभिन्न विद्वानों, समाज शस्त्रियों एंव राजनीतिक विचारको के द्वारा संस्कृति को परिभाषित किया गया है।

चक्रवर्ती राजगोपालचारी के शब्दों में "किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार वाणी एंव क्रिया का जो व्यात्त रहना है उसी का नाम संस्कृति है।"[1]

डॉ० सम्पूर्णानंद का कहना है कि "निंरतर प्रगतिशील मानव–जीवन प्रकृति और मानव समाज के जिन–जिन असंख्य प्रभावों एंव संस्कारों से समाज प्रभावित होता है उसे संस्कृति कहते है। मानव का प्रत्येक विचार, प्रत्येक कृति संस्कृति नही है, पर जिन नामों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े, वह स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है। संस्कृति वह आधार–शिला है, जिसके आश्रय से जाति, समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।[2]

बाबू गुलाबराय के अनुसार संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कार व्यक्ति के भी होते है और जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।[3]

रामधारी सिंह दिनकर ने संस्कृति को परिभाषित करते हुये कहा है कि संस्कृति एक ऐसा गुण है, जो हमारे जीवन में छाया हुआ है यह एक आत्मिक गुण है, जो मनुष्य स्वाभाव में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग–युगान्तर में होता है।"[4]

संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न विचारको के द्वारा दी गयी परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि संस्कृति जहां समष्टि रुप में राष्ट्र की जीवन धारा को प्रभावित

---

1. त्रिपाठी रुपनरायण एंव साहू रामदेव (उद्वृत) भारतीय संस्कृति, श्याम प्रकाशन, जयपुर 2001, पृ0 2
2. वही, (उद्धृत) पृ0 2
3. वही,
4. वही,

करती है वहीं व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के सम्पूर्ण कार्य कलाप, जो व्यक्ति को राष्ट्र से जोडे रखते है, संस्कृति में समाहित हो जाते है।

भारतीय संस्कृति का स्वरुप :-

भारतीय संस्कृति लौकिक एवं पार लौकिक उद्देश्यों को लेकर चलती है। उसे न केवल आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की दृष्टि से अपितु पार्थिव जीवन मूल्यों की दृष्टि से भी उतना ही मूल्यवान कहा जा सकता है। उसने जहां आत्मा, जीव, जगत, धर्म दर्शन आदि को वैचारिक चिन्तन से ओतप्रोत किया वही विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, शिल्प, स्थापत्य आदि विविध क्षेत्रों ने भी विश्व को बहुत कुछ दिया है। भारतीय संस्कृति में जीवन–मूल्यों को यथार्थ की कसौटी पर परखा जा सकता है, वे कोरे आदर्श नही हैं। जीवन से सम्बनिधत भारतीय संस्कृति में आत्मा के सत्य की प्रतिष्ठापना की गयी है अतः यह कहा जा सकता है, कि यहां विश्व की भैतिक ही नही, अपितु मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा भी विद्यमान है। इस अवधारणा में विश्वास को जीने का प्रयत्न सुरक्षित है। यहां जीवन की उपेक्षा नही है और यही कारण है कि अन्य संस्कृतियों में व्याप्त निराशावादिता के विरुद्ध यहां आशावादिता जीवन का अंग बन गयी है।

भारतीय संस्कृति में मन, बुद्वि, एंव आत्मा के सर्वोच्च्य विकास का महत्व स्वीकार किया गया है, क्योकि सर्वोच्च्य विकास के उपरान्त ही मानव आत्मा के सत्य का साक्षत्कार कर सकता है इसी प्रकार भारतीय संस्कृति मानवीय विविधताओं रुचिगत भिन्नताओं इत्यादि को स्वीकार करती है, क्योकि व्यापकता एंव परिपूर्णता को प्राप्त करने के लिये इन्हे स्वीकार करना अत्यावश्यक है। भारतीय संस्कृति में

आध्यात्म की प्रतिष्ठा अवश्य की गयी है, पर भैतिकवाद की भी उपेक्षा नही की गयी है। यही कारण है कि यहां धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ एंव काम को भी यथोचित स्थान प्रदान किया गया है, तथापि मानवोचित सन्तुलित जीवन की दृष्टि से अर्थ एवं काम को धर्म से नियन्त्रित कर दिया गया है।

संस्कृति और धर्म–

किसी भी संस्कृति में सभ्यता के सर्वोत्तम मार्गदर्शन के दो प्रकार के दृष्टि कोंण हो सकते है– 1. जीवन सम्बधी आध्यात्मिक एंव धार्मिक–दार्शनिक दृष्टिकोंण या 2. उन्मुक्त वैचारिक चिन्तन, प्रेरणायें एंव तर्कवादी बहिर्मुखी दृष्टिकोंण।

भारतीय संस्कृति प्रथम प्रकार के दृष्टिकोण को पक्षपाती रही है, यही कारण है कि वह धर्म को अपने से कदापि अलग न कर सकी । धर्म ही सच्चे अर्थों में व्यक्ति निर्माण करता है, व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना है। धर्म आत्मा की अन्तर्मुखी दृष्टि से व्यक्ति के बाह्य जीवन को देखता है। उसे मर्यादित करता है। इस रुप में वह व्यवहारिक जीवन से जुड़कर मानव को सच्चे अर्थो में मानव बना देता है। धर्म व्यक्ति को जहां आत्म चिंतन से जोड़ता है, वहीं जीवन जीने की श्रेष्ठतम कला के सन्दर्भ में प्रेरणा का अजस्त्र स्रोत भी है। यही कारण है कि पाश्चात्य संस्कृतियां जिस चरम सत्य को अन्त तक खोजती रही, उस चरम सत्य को भारतीय संस्कृति ने अपने अतीत में आज के हजारों वर्ष पहले प्रतिष्ठित कर दिखाया।

भारतीय संस्कृति ने जिस धर्म कों 'एव धर्मः सनातनः' कहकर प्रतिष्ठापित किया है, वह सनातन धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी एंव त्रिकर्मकृत् है। अन्तरात्मा,

मानसिक जगत् एंव स्थूल जगत् में ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार करना ही इसका त्रिविधत्व है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म इन तीन मार्गो से जुड़ा होने के कारण भारतीय धर्म त्रिमार्गगामी है। यह धर्म सत्य, प्रेम व शान्ति का प्रतिष्ठापक होने से त्रिकर्मकृत है। भारतीय संस्कृति धर्म प्राण संस्कृति है और यही कारण है कि

धर्म किसी भी क्षेत्र से अछूता नही है। धर्म के अनेक रुप हमें भारतीय संस्कृति में देखने को मिलते है, जैसे–व्यक्ति धर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म राष्ट्रधर्म, युगधर्म, इत्यादि।

भारतीय संस्कृति का आधार प्राप्त कर धर्म यहां कर्तव्य के रुप में बदल गया वह मानव मात्र को सम्पूर्ण अकर्तव्य कर्मो से पृथक कर देता है भारतीय धर्म ''सर्व खाल्विदं ब्रह्म'' के शास्वत सत्य पर टिका हुआ है। उस शास्वत सत्य की प्राप्ति हेतु भारतीय मानव का सम्पूर्ण जीवन ऐसे धरातल को प्राप्त करता है, जहां वह कोरा कर्मक्षेत्र बनकर नही रह जाता, उसे धर्म क्षेत्र भी बनना पड़ता है। भारतीय संस्कृति की धर्मप्राणता का यही रहस्य है।

भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्य

भारतीय संस्कृति में आदर्श की अनुप्रेरणा रही है क्योकि इस संस्कृति के संवाहक वैदिक मंत्रद्रृष्टा ऋषि, महर्षि ,मुनि, योगी तपस्वी महापुरुष रहे हैं। उन्होने मानवीय जीवन मूल्यों को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने के महान् प्रयास में अपना आदर्श स्थापित किया है। भारतीय संसकृति को शास्वत प्रावाहिकता प्रधन करते हुये उन्होने यह अनुभव किया कि मानवीय आचरण जीवन जीने के सुन्दर सोपान हो, अत: जीवन सचांलन के मान दण्ड अवश्य होने चाहिये वे मानदण्ड ही

जीवन–मूल्यों के रुप में यहां प्रतिष्ठा पा सके है। भारतीय संस्कृति के कर्णधार मानव जाति की आशा को इन्ही जीवन मूल्यों में निहित मानते हैं।

यद्यपि वैज्ञानिक एंव युक्तिवादी ज्ञानोदय के आधुनिक काल में जीवन मूल्यों का स्वरुप तेजी से बदलने लगा है फिर भी भारतीय संस्कृति ने जिन जीवन मूल्यों को शाश्वत रुप से प्रतिष्ठापित कर दिया है, वे आज भी सत्य की कसौटी पर खरे हैं। यदि नैतिकतापूर्ण दृष्टि से जीवन–मूल्यों की मीमांसा की जाये तो भारतीय जीवन मूल्य अन्य संस्कृतियों के जीवन मूल्यों की अपेक्षा निश्चित ही अधिक नैतिक एंव लोकोत्तर सिद्व होंगे। भारतीय संस्कृति रुपी समुदकी अथाह गहराई में छिपे यें जीवन मूल्य संस्कृत साहित्य में रत्नों की की भांति आज भी सुरक्षित है।

भारतीय संस्कृति का जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोंण है। उसके जीवन–मूल्यों की नींव इतनी सुदृढ़ है, कि उसके बलबूते पर यहां दिव्य जीवन की भी कल्पना की गयी है। यह दिव्य जीवन है मुक्ति या मोक्ष। यही जीवन का चरम लक्ष्य है इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति में ही जीवन का सम्पूर्ण उद्‌देश्य निहित है। संस्कृति के जीवन–मूल्य मानव जीवन की व्यर्थता का पक्षपात न कर उसकी दुर्लभता का ही प्रतिपादन करते हैं अतः दुर्लभ मानव जीवन के यथार्थ लक्ष्य की पूर्ति में सांस्कृतिक जीवन मूल्यो के योगदान का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति जीवन को दर्शन से जोड़ती है। भारतीय जीवन रचना में जीवन के सम्पूर्ण स्वरुप को दृष्टि में रखा गया है, केवल वैराग्य अथवा मुक्ति को नहीं। चारो मानवीय पुरुषार्थो धर्म, अर्थ,काम और मोक्ष को स्थान देकर भारतीय संस्कृति ने मानव को वह उदार दृष्टि प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त किया है, जिसके आधार पर भारतीय मानव भाग्यवाद, एंव आत्मवाद की तुलनात्मक समालोचन कर

सके। भारतीय संस्कृति के संरक्षण में सुपल्लवित भारतीय दर्शन जीवन में आध्यात्मिकता को समाविष्ट करता नजर आता है। भारतीय अध्यात्मिकता अपने महन्तम युगो में तथा अपने अन्तरतम अर्थ में कोई क्लान्ति, वैराग्य अथवा सन्यास–धर्म नही है, अपितु लौकिक कामनाओं तथा तुष्टियों के क्षुद्र धरातल से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता शक्ति, प्रकाश भागवत उपलब्धि, दृढ़–प्रतिष्ठ शान्ति एंव आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिये मानव–आत्मा के उत्कृष्ट प्रयास के रुप में उपस्थापित है।

भारतीय संस्कृति एंव समाज

भारतीय संस्कृति मानव के लिये सभ्य एंव सुसंस्कृत समाज की अपेक्षा प्रतिपादित करती है। उसने समाज को सुसंगठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सांस्कृतिक दृष्टि से पूरे भारत राष्ट्र की आत्मा एक है तथा इसमें जहां राष्ट्रीय एकता को बल मिला है वहीं सामाजिक एकता की स्थिति भी सुदृढ़ रही है। सामाजिक भावना की प्रबलता भारतीय संस्कृति के प्रणेताओ के लिये वासुधैव कुटुम्बकम् के रुप में एक शाश्वत सिद्वान्त बन गयी है। ''कृण्वतों विश्वभार्यम्'' का उद्घोष सम्पूर्ण विश्व को एक सामाजिक ढांचे में ढालने के महान प्रयत्न का सूचक है।

भारतीय संस्कृति में समाज कभी विश्रृंखलित नही रहा। यहां वैदिक काल से ही वर्ण व्यवस्था द्वारा सामाज के सुंसगठित स्वरुप के दर्शन होते है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में समाज किसी भी प्रकार की जटिलताओ से ग्रस्त न था। बाद में जाति–प्रथा ने समाज को विश्रृंखलित होने से बचाया। वंशानुगत जाति प्रथा

ने भारतीय संस्कृति में पल्लवित सामाजिक परिवेश में कुछ विभिन्नताओं को अवश्य जन्म दिया तथपि एक लम्बे समय तक भारतीय समाज सांस्कृतिक एकता के सूत्र में आवद्व रहा।

समाज को सभ्य बनाने में भी संस्कृति का पर्याप्त योग्यदान रहा है। वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी नियमों की भांति ही आश्रम व्यवस्था–सम्बन्धी नियम भी भारतीय सामाजिक जीवन के लिए उतने ही आवश्यक समझे जाते थे। समाज में जीवन को मर्यादित बनाये रखने हेतु भारतीय संस्कृति ने सदाचार के नियमों व्यवहारों एवं मर्यादा के उल्लधन पर दण्ड–विधान आदि के माध्यम से भारतीय समाज को पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया।

भारतीय संस्कृति की विषेशताऐं

विश्व में वर्तमान संस्कृतियों में एक मात्र भारतीय संस्कृति ही ऐसी है। जिसके उद्‌गम काल का निर्धारण नही हो पाया है, शेष सब संस्कृतियो के प्रारम्भ का उल्लेख मिलता है। इस कारण भारतीय संस्कृति को अति प्राचीन संस्कृति कहना कोई गलत नही होगा। भारतीय संस्कृति विश्व में प्रचलित सभी संस्कृतियों में उच्च्च है।

प्राचीन काल में भारत को विश्व गुरु कहा जाता था अतः सभ्यता व संस्कृति का सूत्रपात सर्वप्रथम यही माना जा सकता है।[1] भारतीय संस्कृति की अति प्राचीनता का प्रतिपादक एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय संस्कृति के स्वरुप में अब तक जो परिवर्तन हुआ है वह केवल स्वरुप गत परिवर्तन ही है। उसकी मौलिकता पूर्ववत् बनी हुई है और इस कारण उसमें आत्मगत परिवर्तन नहीं हुआ है। एक तत्थ यह

---

1. त्रिपाठी रुपनरायण, साहू रामदेव, पूर्वोक्त, पृष्ठ–7

भी कहा जा सकता है कि अति प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति ही एक मात्र संस्कृति होने से भारतीय ही सर्वाधिक सभ्य एंव सुसंस्कृत थे और उन्हे श्रेष्ठता के वाचक आर्य शब्द से सम्बोधित किया जाता था। विश्व में अन्यन्श्र संस्कृति के अभाव में सभ्यता में हृास को देखकर ही आर्यो ने अपना प्रथम उद्धोष किया था "कृण्वन्तों विश्वमार्यम" अर्थत् हम सम्पूर्ण विश्व को आर्य (सभ्य एवं सुसंस्कृत) कर डालें।[1] इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की विशेषतायें है–

1. धर्म प्रधान संस्कृति

भारतीयसंस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति रही है। धर्म ही संस्कृति की आत्मा है। धर्म के बिना मानव के अभ्युदय की कल्पना व्यर्थ है,जैसा कि धर्म लक्षण में भी कहा है –

"यतोभ्युदयनिः श्रेयः सिद्विः स धर्मः।" चूकि संस्कृति का मूल लक्ष्य अभ्युदय ही है, अतः धर्म से उसका समबन्ध अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाता है।[2] भारतीय संस्कृति में धर्म को इस लिये महत्ता दी गयी है, क्योकि धर्म ही ऐसा तत्व है जो मानव को पशु से भिन्न सिद्ध करता है।

त्रिवर्ग एंव पुरुषार्थ–चातुष्ठ में भी धर्म को प्राथमिकता दी गई है क्योकि धर्म ही अर्थ एंव काम का नियमन करता था उसी के माध्यम से मोक्ष में प्रवृत्ति होती थी। सामान्य रुप से धर्म मानव जीवन के सभी क्षेत्रों से जुड़ा हुआ था। मानवोचित कर्तत्य भी धर्म के अर्न्तगत ही समहित थे। धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था, फलस्वरुप धर्म के कई स्वरुप भारतीय संस्कृति के अंग बन गये थे,
राजधर्म, ब्रह्मचारी धर्म, गृहस्थ धर्म वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वैराग्य धर्म, यति धर्म, स्त्री

---

1. वही, पृ0 8

2. वही,

धर्म आदि।

भारतीय संस्कृति में ज्ञान की प्रधनता स्वीकार की गयी है। विज्ञान भी ज्ञान का साधक है अतः ज्ञान विज्ञान भी धर्म के क्षेत्राधिकार में समाविष्ट प्रतीत होते हैं। श्रुति व स्मृति ज्ञान के आधार थे, तो सदाचार स्वरुप। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि उसने इन सबको धर्म का अंग बना दिया।

2. धर्म सहिष्णुता -

धर्म दृष्टि से भारतीय संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता रही है कि वह धर्म के प्रति पर्याप्त उदार रही है। भारतीय धर्म के लिये श्रुति एंव स्मृति में सनातन शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है वह धर्म जो आदि काल से चला आया है। यह भारतीय धर्म किसी भी सम्प्रदाय या जाति आदि से बंधा हुआ नही था किन्तु जब विश्व में अन्य संस्कृतियां पनपी, तो जाति के आधार पर धर्मो का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म सनातन धर्म के समानान्तर नही थे इनमें कई प्रकार की विषमतायें थी। बौद्ध जैन, सिख, फारसी आदि कालान्तर में उत्पन्न धर्म वैदिक धर्म से कई बातों में विरोधी थे, किन्तु भारतीय संस्कृति ने सब धर्मो के प्रति उदारता बरती अतः बौद्व, जैन, एवं सिख धर्मो को कालान्तर में सनातन धर्म का अंग मान लिया गया। इस्लाम धर्म तलवार के बल पर भारत में प्रविष्ट हुआ था, किन्तु सनातन धर्म की सहिष्णुता के कारण ही सनातन धर्म अपने मार्ग पर चलता रहा। भारतीय संस्कृति में धार्मिक उदारता के कारण अनेक विदेशी जातियों ने भारतीय होने का गौरव प्राप्त किया। बरसों तक इस्लाम का राज्य हमारे देश पर रहा, पर भारतीय संस्कुति की धर्मसहिष्णुता ने ही अकबर जैसे इस्लामी शासक को भी धर्म सहिष्णु बनने पर

मजबूर कर दिया। भारतीय संस्कृति की धर्मसहिष्णुता के कारण ही आज अनेक सांस्कृतिक एकता सुरक्षित एंव स्थायी बनी हुई है।

3. यज्ञ एंव अध्यात्म प्रधान

भारतीय संस्कृति में यज्ञ को भी प्रधानता दी गयी थी, क्योकि बैदिक परम्परा में सम्पूर्ण सृष्टि को ही यज्ञ से उत्पन्न माना गया था। विद्वानों का मानना है कि यज्ञ रुप प्रयोजन की सिद्धि के निमित्व ही वेदों की रचना की गयी, क्योकि वेद मंत्र ही यज्ञो में विनियोग के उद्देश्य को पूर्ण करते थे वैदिक मानव का प्रमुख कर्म यज्ञ ही था। यज्ञ को ही प्रजापति कहा गया था "यज्ञो वै प्रजापतिः"। [1] यज्ञ को सनातन माना गया था। सृष्टि के साथ ही प्रजापति ने यज्ञ विधि का विधान किया। इस सन्दर्भ में भगवद् गीता का वचन है–

"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्य ध्वमेष वो Sस्त्विष्टकामधुक्।।" [2]

भारतीय संस्कृति में यज्ञ के तीन स्वरुप माने गये है– वैदिक यज्ञ, स्मार्त्त यज्ञ एंव लौकिक यज्ञ। भारतीय संस्कृति में यज्ञो की महत्ता सर्वोपरि थी। सभी शुभ कार्यो का प्रारम्भ यज्ञ से होता था, देवताओं की सन्तुष्टि के निमित्त तो यज्ञों वैदिक विज्ञानो की मान्यता थी कि यज्ञ देव, का विधान था ही, धर्म की सम्पूर्ति के निमित्त भी यह अनिवार्य था। वैदिक विज्ञानों की मान्यता थी कि यज्ञदेव पितृ एंव मनुष्यों का संयोजक सेतु था।

भारतीय संस्कृति में ज्ञान की अन्तर्मुखी वृत्ति स्वीकार दी गयी है, तथा उसके द्वारा आत्म ज्ञान की प्राप्ति को मानव जीवन का मूल लक्ष्य माना गया था। शरीर की

क्षण भंगुरता तथा आत्मा की नित्यता के सिद्धान्त ने आध्यात्मवाद को पर्याप्त सबलता प्रदान की। जहां शरीर को भस्मान्त शरीरम् कहा गया वहां आत्मा को अणोरणीयान् महतो महीयान् माना गया। भारतीय संस्कृति ने यद्यपि पुरूषार्थ चातुष्टय की कल्पना करके भैतिकता एवं अध्यामिकता के समन्वय का महान प्रयत्न किया था, यद्यपि उसने भौतिकता को अधिक महत्व नहीं दिया, क्योकि भौतिकता ही आत्मज्ञान में बाधक थी। साथ ही वैदिक ऋषि ने भौतिक होते हुये भी सम्पूर्ण जगत को आध्यात्म से परिच्छिन्न माना था।

4 व्यक्ति निर्माण एंव चरित्र निर्माण

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह भी रही कि यह संस्कृति मानव को पशुत्व से पृथक कर सच्चे अर्थों में मानव बनाती है। इसमें चरित्र को प्रधान स्थान दिया गया है। इसमें मानव जीवन को सोद्‌देश्य बतला कर जीवन के चरम लक्ष्य की और मानव को उन्मुख कर दिया जाता है फलतः मानव अपने लक्ष्य की निरतर बढता रहता है। भारतीय संस्कृति में ज्ञान का उन्नयन मानव को सदविवेक प्रदान करता है तो कर्म पथ पर बढ़ते रहने की प्रेरणा उसको सफलता के काफी नजदीक ले जाती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्ण एवं परिपक्व बनाने के लिये भारतीय संस्कृति चारित्रिक गुणो की अपेक्षा पर बल देती है। यहां सदाचार के अन्तर्गत कुछ चारित्रिक गुणों को धर्म अर्थात् कर्तव्य बना दिया गया है तथा अकर्तव्य से बचने की प्रेरणा की गयी है।

भारतीय संस्कृति के कर्णधार महापुरुषों ने चरित्र के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये है। उन्होने अपने जीवन को चरित्र के आदर्श रुप में प्रस्तुत किया हैं। राम,

कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि के जीवन उदाहरण रुप में देखे जा सकते है।

5 संस्कार मूलकता

भारतीय संस्कृति के अपरिहार्य अंग के रुप में संस्कारों की व्यवस्था की गयी है। संस्कार ही मानव को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाते हैं। संस्कार ही गुणो के आधायक होते है। अतः गुणो के प्रति संस्कारों की नैमिन्तिकता स्वयम् सिद्ध है। भारतीय संस्कृति में संस्कार दो प्रकार के माने गये है कुछ संस्कार तो वे होते है, जो पूर्व जन्म के होते हुये भी इस जन्म में पल्लवित हो जाते है। कुछ संस्कार ऐसे होते हैं, जिन्हे कर्म विशेष के आचरण से सम्पन्न करना पड़ता हैं।

संस्कारो के सम्बन्ध में एक धारणा यह भी प्रचलित रही है, कि जन्म से सब एक ही जाति (क्षुद्र मनुष्य) के उत्पन्न होते हैं, किन्तु संस्कार होने पर मनुष्य द्विज हो जाता है जैसा कि कहा है–

"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारद् द्विज उच्यते।" शास्त्रो में संस्कार युक्त की ही उत्कृष्ट गति का विधान हुआ है तथा संस्कार हीन की निकृष्ट गति कही गयी है।

6 वर्ण व्यवस्था

विश्व के सभी समाजो में सामाजिक वर्ग अवश्य पाये जाते हैं। इतना निश्चिय है कि कहीं सामाजिक वर्गों का निर्माण जन्म के आधार पर हुआ है तो कही धन में आधार पर। भारतीय सामाजिक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का विशेष महत्व पाया जाता है। इन्ही व्यवस्थाओं के आधार पर हिन्दुओं के व्यक्तिगत और सामाजिक

सांस्कृतिक जीवन को संगठित किया गया है। वास्तव में वर्णाश्रम व्यवस्था (वर्ण—आश्रम धर्म) ही वह धुरी है जिसके चारो ओर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था धूमती है।[1] वैसे देखा जाये तो भारतीय संस्कृति में सामाजिकता की सुरक्षा के लिये समाज संगठन की अवश्यकता की सम्पूति के निमित्त वर्ण व्यवस्था की स्थापना की गयी थी। वर्ण व्यवस्था के माध्यम से भारतीय समाज को चार वर्णो में विभक्त किया गया था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र।

वास्तव में शाब्दिक अर्थ के आधार पर वर्ण, को नही समझा जा सकता। वर्ण का सम्बध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है। जिन व्यक्तियो के गुण तथा कर्म एक—से थे अर्थात् जो समान स्वाभाव के थे, वे सब एक ही वर्ण के सदस्य माने जाते थे। भगवत गीता में भी इसी बात को व्यक्त करते हुये श्री कृष्ण ने कहा है "चतुर्वर्ण मया सृष्ट गुणकर्म विभागशः," अर्थात् मैने ही गुण और कर्म आधार पर चारो वर्णो की रचना की है।[2] उपयुर्क्त कथन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के गुण तथा कर्म पर आधारित तथा जिसके अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रुप में कार्यात्मक विभाजन हुआ। यहां गुण तथा कर्म का तात्पर्य व्यक्ति के स्वभाव एवं सामाजिक दायित्वों से है।[3] समाज में विभिन्न कार्यो को ठीक प्रकार से चलाने के उद्देश्य से व्यक्तियों को स्वाभाविक प्रवृत्तियों या उनके स्वाभाव को ध्यान में रखते हुये उन्हे विभिन्न समूहो अर्थात् चार वर्णो में बांटा गया था— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने वर्णधर्म का पालन करते हुये अर्थात् अपने दायित्वों को निभाते हुये सामाजिक उन्नति में योग देते थे।

---

1. गुप्ता एम.एल. एवं शर्मा, डी0डी0, भारतीय समाज तथा संस्कृति, साहित्य भवन, आगरा—1990 पृष्ठ—63

1 भगवत गीता, अध्याय 4, श्लोक 13, गीता प्रेस गोरखपुर

2 गुप्ता एम0एल0ए शर्मा डी0डी0, पूर्वोक्त, पृष्ठ—65

7. आश्रम व्यवस्था–

व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को सन्तुलित एवं व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का विधान किया गया था वर्ण धर्मो के निर्वाह हेतु आश्रम व्यवस्था के महत्व को प्रकट करते हुये डा0 प्रभु ने लिखा है, "हिन्दुओं के द्वारा सोची तथा नियोजित की गयी आश्रम व्यवस्था विश्व के समाजिक विचारों के सम्पूर्ण इतिहास में एक अपूर्व देन है"।[1] मनुष्य के सारे जीवन और उससे सम्बंधित कार्यो को आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया गया है। इस व्यवस्था ने व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर दिया है वास्तव में व्यक्ति अपने व्यक्तिव का समुचित विकास करके ही समाज की प्रगति में योग दे सकता है। डा0 पी0वी0 काणे ने बताया है, "वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिये था किन्तु आश्रम का सिन्द्वात व्यक्ति के लिये था। आश्रम सिद्धान्त यह बताता था कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है। उसे अपने जीवन को किस प्रकार से चलाना है। तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में उसे क्या–क्या तैयारी करनी है। निःसन्देह आश्रम सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही यह भली भांति कार्यान्वित न की जा सकी किन्तु इसके उद्देश्य बड़े ही महान एवं विशिष्ट थे"।[2] आश्रम व्यवस्था का हिन्दू सामाजिक संगठन के मूल आधार के रुप में विशेष महत्व रहा है। इसने व्यक्तित्व के विकास, दायित्व के निर्वाह और समाज की उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

आश्रम व्यवस्था की उत्पति अथवा ऐतिहासिक क्रम के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ भी कहना कठिन है। लेकिन इतना अवश्य है कि यह एक उत्तर वैदिक कालीन व्यवस्था है। वैदिक साहित्य में आश्रम शब्द का कही प्रयोग नहीं हुआ

---

1. वही (उद्धत) पृष्ठ–80
1. वही (उद्धृत) पृष्ठ–80, 81

है लेकिन तथ्यो से ऐसा ज्ञात होता है, कि उस समय इस पर विचार प्रारम्भ हो चुका था। आश्रम व्यवस्था के विकास के प्रारम्भिक स्तर पर केवल तीन आश्रमों का ही उल्लेख मिलता है। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम एक दूसरे से मिले हुये थे इन्हें बाद में प्रथक कर दिया गया।[1] ऐसा मालूम पड़ता है कि छानदोक्य उपनिषद के समय तक इस व्यवस्था का काफी विकास हो चुका था इस उपनिषद में जीवन के गृहस्थ बानप्रस्थ एवं ब्रह्मचर्य का वर्णन मिलता है। यहां ब्रह्मचर्य आश्रम को जीवन का अन्तिम स्तर माना गया है। जाबालि उपनिषद् में सबसे पहले चारो आश्रमों का व्यस्थित रुप में उल्लेख मिलता है।[2] उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था का विकास उपनिषद काल में हुआ। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मानकर उसके सम्पूर्ण जीवन को चार बराबर भागों में विभाजित किया गया। इस प्रकार जीवन 25–25 वर्ष के चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, बानप्रस्थ तथा सन्यास में बांटा गया है इन चारों आश्रमों में क्रम से रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है। प्रत्येक आश्रम में धर्म की मर्यादा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात् ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है।

चारो आश्रमों के प्रथक–प्रथक कर्तव्य भी निर्धारित किये गये थे मनुस्मृति में चारों आश्रमों की व्यवस्था का निरुपण निम्न प्रकार से किया गया है। बृह्मचर्य की विशेषता बताते हुये लिखा है–

"बृह्मचारी गुरुकुले बसन् दान्तों गुरोर्हितम्।
अचारन्दासवन्नीचो गुरौ सुहृदि सौह्यादः।।"[3]

1. वही (उद्धृत) पृ0–82
2. वही,
3. वही,

अर्थात् बृह्मचारी गुरुकुल में निवास करता हुआ इन्द्रियों के वशीकरण पूर्वक गुरु के हित का आचरण करता हुआ गुरु के प्रति दासवत् भाव से नम्र बनकर अध्ययन करे तथा मित्रो के प्रति मैत्री भाव बनाये रखे एवं गुरुकुल में रहकर विद्या अध्ययन करे। तत्पश्चात गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे गृहस्थ आश्रम में मनुष्य द्रोह रहित होकर या अल्प मात्रा में ही द्रोहादि की भावना से सदाचार का पालन करता हुआ आपत्ति रहित जीवन व्यतीत करे। यह जीवन एक यात्रा है, ऐसा मानकर अपने करणीय कर्तव्यों का पालन करते हुये बिना शरीर को कष्ट पहुचाये धन का संचय करे। गृहस्थ मनुष्य को प्रतिदिन सन्ध्या स्नान, जप, होम, देवपूजा तथा अतिथि सत्कार ये छः कर्म अवश्य ही करने चाहिये।

वानप्रस्थ तीसरा आश्रम था, वानप्रस्थी सपत्नीक या अपत्नीक दोनो रुपों में वन में प्रस्थान कर सकता था। वानप्रस्थ के लिये तप ही सबसे बडा कर्तव्य अथवा धर्म था। वानप्रस्थ के लिये स्पष्ट आयु निर्धरित नही थी अर्थत् जब गृहस्थ पुरुष यह देखे कि वह जर्जर एवं पके हुये केश वाला हो गया है। उसके पुत्र– पौत्रादि हो चुके हैं तो वह वन में प्रस्थान करे। वानप्रस्थी को वन के वस्तुओं पर आश्रित होकर रागादि वासनाओं से रहित जीवन जीना चाहिये।

जीवन का चौथा एवं अन्तिम आश्रम सन्यास आश्रम था। सन्यासी का प्रथम कर्तव्य था सबके हित की बात सोचना, क्रोध कदापि न करना, सर्वथा शांत रहना, निर्मल आदि स्वाभाव होना चाहिये। सन्यासी त्रिदण्ड धारण करता था, कमण्डलु धारण करता था, उसे जटा धारण करना, शिखा धारण करना एवं भिक्षा हेतु ग्राम का आश्रय लेना उचित था। आत्मज्ञान, वेदाभ्यास सन्यासी के मुख्य कर्तव्य थे।

---

८. पुरुषार्थ चतुष्टय–

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रुपी चार पुरुषार्थो की परिकल्पना की गयी है जो मानव जीवन को सोद्‌देश्य बनाते हैं। इन चार पुरुषार्थो में ही जीवन की परिपूर्णता है। धर्म जीवन का सर्वाधिक व्यापक तत्व हैं समाज में धर्म से पृथक रहकर नही रहा जा सकता क्योकि आधार्मिक ही आसामाजिक बनता है। धर्म आध्यात्म को सम्पूर्ण करता है। यह मानव को आचार व्यवहार की सीख देता है, कर्तव्यों का बोध कराता है तथा अकर्तव्यों से पृथक रहता है।

दैनिक जीवन एवं लोक व्यवहार में अर्थ का सर्वाधिक महत्व है, अतः उसकी उपेक्षा करके भी जीना सम्भव नहीं । इस दृष्टि से भारतीय ऋषि–मुनियो ने अर्थ को भी पुरुषार्थो में स्थान प्रदान किया था। आर्थोपर्जन मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य था, किन्तु उसे धर्मानुकूल रहकर ही किये जाने का प्रावधान था। धर्म विरुद्ध अर्थ का उपार्जन निषिद्ध था, इसी प्रकार वैयक्तिक जीवन एवं सन्तानोत्पति के निमित्त धर्म अनुकूल काम का सेवन ही प्रशस्त माना गया था। मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया था क्योकि मोक्ष ही ऐसा साधन था, जिसके द्वारा जन्म–मरण रुपी संसार से मुक्ति मिलती थी। आत्मज्ञान एवं आत्म साक्षात्कार मोक्ष के साधन थे।

९ पंच महायज्ञ

भारतीय सामाजिक संस्कृति में गृहस्थ मनुष्यों के लिये पंच महायज्ञों का विधान किया गया है भारतीय ऋषियों की अवधारणाा थी कि गृहस्थ जनो से चूल्हे चक्की, झाडू, पनधट एवं कण्डे आदि से सम्बधित कार्यो में जीव हिंसा सभ्भावित है। इन पांच प्रकार की हिंसाओं के पाप से निवृत्यर्थ जिन पंच महायज्ञों का विधान था

वे थे बह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ। अर्थात् नित्य स्वाध्याय करना ब्रह्मयज्ञ था, पितरों के निमित्त श्राद्धतर्पण करना पितृ यज्ञ था, नित्य अग्निहोत्र करना देवयज्ञ था बलिवैश्वदेव कर्म भूतयज्ञ था तथा अतिथि सत्कार नृयज्ञ था। इन यज्ञों के आचरण में कुलमर्यादा को प्रधानता दी गयी थी।

10. कर्म एवं पुनर्जन्म

कर्म की प्रधानता भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता है कर्म करते हुये ही मानव श्रेयः को प्राप्त करता है कर्म से ही लोक की स्थिति है तथा लोक में कर्म ही सिद्धि (सफलता) का एक मात्र उपाय है यद्यपि कर्म के आचरण में व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है, तथापि कर्मफल पर उसका स्वामित्व नही है, अतः उसे कर्म फल की इच्छा से कर्म नही करना चाहिये। ऐसा कर्म आचरण निष्काम कर्म कहलाता है। इसके सम्बन्ध में गीता का वचन है–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।

मा कर्मफल हेतु र्भूर्या ते संगाऽस्त्वकर्मणि।।"[1]

अर्थात् तुझ मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्मफल में कदापि नही अतः तू कर्म फल का हेतु न बन, कर्म में तेरी आसक्ति न हो।

11. आचार एवं व्यवहार

भारतीय संस्कृति व्यावहारिक आचार की शिक्षा को प्रमुखता देती है। शिष्ट कार्यो का अनुष्ठान ही आचार कहा जाता है। आचार परमो धर्मः कहकर भारतीय संस्कृति ने आचारण को ही धर्म का उज्जवल एवं सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रतिपादित

1 भगवत गीता, अध्याय–2 श्लोक–47 गीता प्रेस गोरखपुर

किया है। आचरण से हीन होने पर देवता भी पवित्र नही माने जाते, अतः कहा है– आचारहीन न पुनन्ति देवाः।[2]

आचार एवं व्यवहार को भारतीय संस्कृति में वंशानुगत परम्परा के रुप में प्रतिपादित कर दिया है। पिता पितामह, प्रपितामह आदि पूर्वजों ने जिस सन्मार्ग का आचरण किया, वही सन्मार्ग श्रेष्ठ है पारम्परिक सन्मार्ग पर चलने बाला दोष का भागी नही होता व्यावहारिक दृष्टि से आचार के इस स्वरुप को सदाचार कह कर प्रतिष्ठापित किया गया है मनस्मृति में व्यवहारिक दृष्टि से आचार की महत्ता बतलाते हुये लिखा हैं कि आचार से आयु सन्तान व धन की प्राप्ति होती है।

12. दान एवं परोपकर संस्कृति

दानशीलता भारतीय सामाजिक संस्कृति की अन्यतम विशेषता है। स्वार्थ के परित्याग के साथ परार्थस्वरुप दान का महत्व भारतीय सामाजिक संस्कृति का उत्कृष्ट आदर्श है धन की तीन गतियों में दान को उत्तम गति, भोग को मध्यम गति तथा नाश को निकृष्ट गति माना गया है। भारतीय संस्कृति में यह विश्वास व्यक्त किया जाता है कि दान ही जन्मान्तर में मानव को सम्पन्न बनाता है। जो दान नही देता है वह जन्मान्तर में दरिद्र होता है।[1] दान को तीन प्रकार का बताया गया है।

सात्विक दान, राजस दान, एवं तामसदान ये तीनो प्रकार के दान ही दाता की उत्तम, मध्यम और अधम गति के कारण बनते हैं। स्मृतिशास्त्रो में देश काल एंव पात्र के विवेक से दान देने का उल्लेख है। इसे सात्विक दान कहा गया है। राजसदान किसी प्रतिफल की इच्छा से किया जाता है। लोक दिखावे के लिये किया जाने वाला दान तामस दान है।

---

1. त्रिपाठी रुपनरायण, साहू, रामदेव, पूर्वोक्त, पृ0 2

शास्त्रों में महादान का भी उल्लेख मिलता है। गोदान, भूदान, स्वर्णदान, कन्यादान एवं विद्यादान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ महादान बताये गये है। दान की भांति ही परोपकार भी पुण्यप्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। उपकार में स्वार्थ की अपेक्षा का सर्वथा परित्याग अत्यावश्यक है।

13. राष्ट्रीयता आत्म गौरव एवं विश्वबन्धुत्व की भावना

राष्ट्रीयता भारतीय सामाजिक संस्कृति की मुख्य विशेषताओं में से एक है। राष्ट्रवाद की अवधारणा वैदिक काल से प्रादुर्भूत होकर क्रमशः विकसित होती रही है। राष्ट्रीय भावना के कारण ही आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से भारतीय मानव पर्याप्त देशानुरागी रहा है, राष्ट्रीयता के साथ–साथ आत्म गौरव भी भारतीय संस्कृति का अन्यतम वैशिष्ट्य है।

भारतीय सामाजिक संस्कृति में भारतीय मानव के दृष्टिकोंण को व्यापकता से व्यक्त किया गया है। संकुचित स्वार्थवृति अभीष्ट न होने से भारतीय मानव में जो चारित्रिक आदर्शवाद व परार्थवृत्ति देरवी जाती है उसके साथ ही पर्याप्त उदारता भी। "उदारचरितानान्तु बसुधैव कुटुम्बकम्" कहकर भारतीय ऋषियों ने सम्पूर्ण पृथ्वीवासियों के बीच विश्व बन्धुत्व की भावना का उद्धोष किया है। यह संस्कृति मानव–मानव के बीच विद्यमान पारस्परिक विभेदों को समाप्त करने का संदेश देती है। यहां सम्पूर्ण पृथ्वी को मानव का घर माना गया है।

भारतीय सामाजिक संस्कृति का मानव कल्याण में योगदान

मानव जीवन को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने के उद्देश्य से युगदृष्टा ऋषियों ने स्मृतियों तथा पुराणों में आचार–विचार चरित्र, चित्त शुद्धि, संयमित जीवन के जो उपदेश दिये है, वे विश्वमानवता के लिये उनकी अनुपम देन कहे जा सकते है। पारस्परिक सामन्जस्य को दृष्टि में रखकर जहां वेद ने विश्व मानव को "सहृदयं सामनस्यम विद्वेषं कृणोमि वः" का पाठ पढ़ाया था, वही धर्म शास्त्र ने वसुधैव कुटुम्बकम् कहकर सम्पूर्ण पृथ्वी को कुटुम्ब बताकर मानव–मानव के बीच विद्यमान वैमनस्य को ध्वस्त करने में पर्याप्त सशक्त आधार प्रदान किया हैं । मैत्री–एवं विश्वबंधुत्व का स्वस्थ चित्रण भी हमें पुराणों में उपलब्ध होता है।

वास्तविकता यह है कि भारतीय सामाजिक संस्कृति ने मानव कल्याण हेतु जिन तत्वो की उपस्थापना की थी, आज उनके ह्रास के कारण ही विश्व में शान्ति का विघटन हुआ यदि भारतीय सामाजिक संस्कृति के सार्वभौम सत्य को स्वीकार कर इसका पालन किया जाये, तो आज भी व्यक्ति, समाज राष्ट्र, विश्व एवं मानवमात्र के कल्याण में कोई बाधा नही रह सकती। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत जिन संस्कारो की कल्पना की गयी है, वे भी प्राणी को सुसंस्कृत व सभ्य मानव बनाने में काफी हद तक उपयोगी हैं।

भारतीय सामाजिक संस्कृति में वैयक्तिक कल्याण के साथ–साथ स्वकल्याण एवं पर–कल्याण का भी पूर्ण महत्व प्रतिपादित किया गया है। यहां सामाजिक आदर्शों के मध्य दोनो प्रकार के कल्याणों को एक दूसरे का पूरक सिद्व किया गया है। पर हित चिन्तन अतिथि सत्कार आदि ऐसे गुण है। जिनमें परकल्याण के

साथ–साथ आत्मकल्याण की भी स्वतः सिद्धि होती है। मानव कल्याण के विषय में भारतीय संसकृति का सम्पूर्ण वैचारिक चिन्तन–मनन अविरल रुप से एक परम्परा को उपस्थापित कर देता है जिसे अपनाकर वस्तुतः हम अपना कल्याण कर सकते है।

अतः यह कहना बिलकुल सत्य होगा कि भारतीय सामाजिक संस्कृति मानव–समाज की अमूल्य निधि है। यह अनादि काल से शाश्वत प्रवाहमान धारा के रुप में अनवरत प्रवर्तित रही है। भारतीय इतिहास ही नही सम्पूर्ण विश्व का इतिहास इससे आबद्ध रहा है। इसके विशिष्ट महत्व एवं अवदान को देखकर विश्व मानव आज भारतीय सामाजिक संस्कृति के प्रति नतमस्तक है। यदि आज संसार की कोई संस्कृति अमर कही जा सकती है, तो वह निःसंदेह भारतीय संस्कृति ही है। संसार का सर्वाधिक भूभाग इस संस्कृति से अनुप्रमाणित है भारतीय सामाजिक संस्कृति के दिव्य आलोक का ही सुपरिणाम है कि भारत राष्ट्र आज विश्व में अपना सर्वोत्कृष्ट स्थान बनाये हुए है। भारत की राष्ट्रीयता संस्कृति के आलोक से आलोकित हो रही है। तो वह निःसन्देह एकमात्र संस्कृति के आलोक से आलोकित हो रही है।

भारतीय संस्कृति की उपर्युक्त सकारात्मक एवं प्राणपोषक बिन्दुओं के बावजूद इसमें पाखण्ड, अतिवेग, कुरीतियों, और विषमताओं ऐसा विष भी समाहित होता चला गया जिसने केवल संस्कृति का रुप बिद्रुप किया बल्कि इसमें विखण्ड की प्रवृत्तियां भी उत्पन्न कर दी। इसके चलते संस्कृति का नकारात्मक पक्ष भारतीय राष्ट्रवाद के लिये एक बहुत बड़ी चुनौती व खतरा बन गयी यह स्थिति विदेशी आक्रमणो व विविध धर्मो के आगमन व प्रचार–प्रसार के कारण उत्पन्न हुई। आज की स्थिति यह

है कि संस्कृति में साम्प्रदायिकता का तत्व व्यापक रुप से विषवमन करते हुये राष्ट्रीय अखण्डता को चोटिल करने कर प्रयास कर रहा है। इसके लिये हिन्दू उग्रवाद इस्लाम आधरित उग्रवाद या ईसाई मिशनरियों द्वारा किये जा रहे धर्म परिवर्तन के प्रयास व उनके विरुद्ध हिन्दूवादी संगठनों की प्रतिक्रिया को उत्तरदायी माना जा सकता है। धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक विद्वेष भारतीय राष्ट्रवाद के लिये एक बहुत बड़ा खतरा है।

भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि और राष्ट्रवाद

भारतीय समाज विशेष रुप से हिन्दू समाज विखण्डन की बुनियाद पर टिका हुआ है। प्रारम्भ में गुण और कर्म पर आधरित वर्ण व्यवस्था इतनी भयावह न थी जितनी कि वर्तमान जाति व्यवस्था, जातीय स्तरीकरण, व जाति अधारित अस्पृश्यता राष्ट्रीय एकता के लिये चुनौती बने हुए है, वर्णो ने कब जाति का रुप ले लिया, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद हैं किन्तु यह तो निश्चित ही है। जाति आधारित हिन्दू समाज सामान्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों पर अधारित नहीं है। जाति की संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक विवेचनाओ का उल्लेख करते हुये एन0के0 दत्ता ने लिखा है कि एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नही कर सकते। प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खान–पान के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध होते थे। अधिकांश जातियों के पेशे निश्चित होते थे। जातियों में ऊंच नीच का एक संस्तरण होता था, जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य रुप से शिखर पर थी।

व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर ही जीवन पर्यन्त के लिये

निश्चित होती थी। केवल जातियों के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिस्कृत किया जा सकता था। अन्यथा एक जाति का दूसरी जाति में जाना सम्भव नही था। सम्पूर्ण जाति–व्यवस्था ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा पर निर्भर थी।[1]

दत्ता द्वारा वर्णित जाति की विशेषताये जाति की विस्तृत व्याख्या करती है और बहुत कुछ सही भी है किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी है। ऐसे उदाहरण भी है जब राजाओं ने कुछ व्यकितयों को जाति का दान देकर ऊंची जाति में रखा, जैसे मनीपुर राज्य की लौही जाति को वहां के राजा ने क्षत्रिय घोषित किया। तथा उसे जनेऊ पहनने की स्वीकृति प्रदान की।[2]

डॉ० घुरिये ने जाति के निम्नाकितं छः सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक विषेषताओं का उल्लेख किया है।[3]

1. जाति का खण्डात्मक विभाजन

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डो में विभजित कर दिया था और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित थे। घुरिये, कहते हैं कि खण्ड विभाजन से तात्पर्य एक जाति के सदस्यों की समुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती थी। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती थी। प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत होती थी जो जाति के सदस्यों पर नियंत्रण रखती थी और उनसे जातीय नियमो का पालन करवाती थी। जाति के नियमों का उल्लंघन करने वालों पर जुर्माना किया जाता था। और कभी कभी उसे बहिष्कृत भी कर दिया जाता था।

---

2 संस्तरण

समाज में सभी जातियों की सामजिक स्थिति समान नहीं थी, वरन उनमें ऊंच नीच का एक संस्तरण अथवा उतार चढ़ाव पाया जाता था। ऊंच नीच की इन व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊंचा था और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा । क्षत्रिय एवं वैश्य इनके मध्य में थे। जनम पर आधरित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती थी। यही कारण था कि निम्न जातियां साधारणतः उच्च जातियों में सम्मिलित नही हो सकती थी, जाति संस्तरण में मध्यवर्ती जातियों की तुलना ब्राह्मणो एवं शूद्धो की स्थिति अधिक स्थिर थी क्योकि ब्राम्हणो का और अधिक ऊपर और का और अधिक नीचे जाना असम्भव था, जबकि मध्यवर्ती जातियां अपने को पास वाली जातियो से अधिक श्रेष्ठ एवं उच्च होने का दावा पेश करती रहती थीं।

3. भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध

जाति व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बधित अनेक निषेध पाये जाते थे। प्रत्येक जाति के ऐसे नियम थे कि उसके सदस्य किस जाति के यहां कच्चा, पक्का तथा फलाहारी भोजन कर सकते हैं किन के हाथ का भोजन व किन के यहां पानी पी सकते थे, किन के साथ बैठकर हुक्का बीड़ी पी जा सकती थी, किन के यहां के घातु या मिट्टी के बर्तनों का उपयोग अपने लिये किया जा सकता था आदि। ब्राह्मणो के हाथ का बना कच्चा व पक्का खाना सभी जातियों के लोग ग्रहण कर लेते थे। किन्तु शूद्रों के हाथ का बना किसी भी प्रकार का भोजन उच्च जतियों के लोग स्वीकार नही करते । सामान्यता ऊंची जातियों के द्वारा

बनाया गया भोजन निम्न जातियों के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता था किन्तु निम्न जातियों के लोगों द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी–कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियों द्वारा ग्रहण नही किया जाता था।

4. नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यतायें एवं विषेशाधिकार

जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त थे जबकि निम्न एवं निम्न जातियों को उनसे वंचित किया गया है। खास तौर पर दक्षिण भारत में निम्न जातियों पर अनेक अयोग्यतायें लाद दी गयी थी। मालावार के इजावाह लोगों को जूते पहनने छाता लगाने एवं गाय का दूध निकालने की मनाही थी। पेशवाओं के राज्य पूना में महर एवं मंग जातियों को सांयकाल तीन बजे से नौ बजे तक शहर में प्रवेश की इजाजत इस लिये नही थी कि उस समय परछाई के लम्बी होन से किसी द्विज पड़ जाने से वह अपवित्र हो जाता था पंजाब में हरिजन शहर में चलते समय लकड़ी के गट्टे बजाता था जिससे कि लोगो को ज्ञात हो जाय कि अछूत आ रहा है और वे मार्ग से दूर हट जाय। उन्हे सड़क पर थूकने की मनाही थी, अतः वे गले में थूकने के लिये बर्तन लटकाया करते थे। निम्न जातियों को स्कूल, मंदिर, तालाब, कुओं एवं सार्वजनिक स्थानों एवं बगीचों के उपयोग की मनाही थी। अछूतों की बस्तियां गांव से दूर होती थीं। इस प्रकार उच्च जातियों को सामाजिक एवं धर्मिक विशेषधिकार प्राप्त रहे है। और निम्न जातियों को अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है।

---

5. पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव

प्रायः प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता थ। जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्रित होता रहता था आज भी कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध है। प्रत्येक जाति यह चाहती थी कि उसके सदस्य निर्धारित जाति मत व्यवसाय ही करें । अन्य जातियों के लोग भी एक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय बदलने से रोकते थे। अन्य जातियों के लोग भी एक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय बदलने से रोकते थे किन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे थे जैसे कृषि, व्यापार एवं सेना में नौकरी जिसमें सभी सभी जातियो के व्यक्ति काम करते थे। मुगल काल से ही जाति पर पेशे सम्बंधी नियंत्रण शिथिल हो गये थे बेन्स का मत है कि जाति का पेशा परम्परागत होता है परन्तु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी के द्वारा या सब या अधिकतर जातियां आज अपनी जीविका निर्वाह करती हैं।[1]

6. विवाह सम्बधी प्रतिबन्ध

जाति की एक प्रमुख व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक जाति अपनी ही जाति या उपजाति मे विवाह करती है। जाति या उपजाति से बाहर विवाह करने वालों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। वेस्टरमार्क ने तो जाति अन्तर्विवाह को जाति का सारतत्व माना है।[1] यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूद्री ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा भी पायी जाती है। किन्तु इसे अपवाद ही कहा जायेगा। जाति अंर्तविवाह के प्रचलन के बारे में गेत का मत है कि इसका उद्देश्य जाति मिश्रण एवं उपजातियों की संख्या में होने वाली वृद्धि को रोकना था।[2]

---

1. वेस्टर मार्क ई0 ए0, हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज पृष्ठ–59
2. गुप्ता एम0 एल0 शर्मा डी0डी0, पूवोक्त, (उद्धत) पृष्ठ–138

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त भी जाति की कुछ अन्य विशेषतायें इस प्रकार से है।

1. जन्म जात सदस्यता

जाति की सदस्यता जन्मजात होती है। एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, मृत्यु पर्यन्त उसी में बना रहता है शिक्षा, धर्म, व्यवसाय एवं गुणो में वृद्धि करने से जाति परिवर्तित नहीं की जा सकती। किन्तु हटट्न ने कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये हैं जिनमे जाति की सदस्यता पूर्णतः जन्म जात नही होती है। ये जातियां है मालावार की अम्लवासी तथा उड़ीसा की शार्दिग–पेशा चासा और करन जातियां।

2. जाति का राजनैतिक रुप

डॉ० सक्सेना का मत है कि जाति एक राजनैतिक ईकाई भी है क्योंकि प्रत्येक जाति व्यावहारिक आदर्श के नियम प्रतिपादित करती है। और अपने सदस्यों पर उनको लागू करती है। जाति पंचायत, उसके कार्य और संगठन जाति के राजनैतिक पक्ष के ही प्रतीक है। जाति के द्वारा विधायिका, न्यायिक और निष्पादिक कार्य भी सम्पन्न होते है जिनके कारण उसे राजनीतिक इकाई का रुप मिलता है।[1] उच्च्च जातियों की अपेक्षा निम्न जातियो में जाति पंचायतों का संगठन अधिक सुदृढ़ होता है। जाति पंचायत के सदस्य साधारणः वंशानुगत होते हैं। ब्रिग्ज ने लिखा है कि जाति के कल्याण और सुरक्षा समबधी सभी कार्य जाति पंचायत के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। वर्तमान मे जाति पंचायतों का क्षेत्र सीमित हो गया हैं कुछ समय पूर्व तक ग्रामीण सामाजिक आर्थिक प्रणाली मे राजनीतिक सत्ता और विशेषधिकार प्रभु जाति

---

3 सक्सेना डा0 आर0एन0, भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थायें, पृष्ठ–53

जातियों के पास रहे है जिनके पास गांव की अधिकतम भूमि रही और जो सामाजिक संस्तरण में भी उच्च स्थान पर रही हैं।

कहना न होगा कि जाति प्रथा में अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण भारत को, विशेष रुप से हिन्दू समाज को, लाभ कम हानि ज्यादा पहुंचाया है। समाजिक असामनता की इस स्थिति में समाज का एक वर्ग समस्त संसाधनों से सम्पन्न था तो दूसरे को इनसे वंचित रखा गया, जीवन के लिये मूलभूत अवश्यकताओं रोटी, कपड़ा, और मकान के लिये ये वंचित साधन सम्पन्न वर्ग के कृपा पर निर्भर हो गये। परिणाम स्वरुप न केवल इनका शोषण किया गया बल्कि इन्हे समाज की मुख्यधारा में शामिल होने से भी रोका गया। इनका जीवन पशुओं से भी बदतर और नारकीय यंत्रणाओं के बीच चलता रहा और हिन्दू समाज अपनी इस विकंलाग स्थिति पर भी हसंता रहा। ऐसे में सामाजिक भेद–भाव विद्वेष को जन्म देता है और ये विद्वेष विखण्डन कारी रुप धारण करते हुये राष्ट्र के लिये विध्वंसक चुनौती बन जाते है।

डॉ० अम्बेडकर ने भारतीय राष्ट्रवाद की इन सम्प्रदायिक और जातीय असमानता की चुनौतियो को भली भंति पहचाना और यह मत निश्चित किया कि न केवल हिन्दू धर्म को मानने से और न ही इस्लाम को अपनाने से इन चुनौतियो से कारगर रुप से निपटा जा सकता है। इसका सही हल बौद्ध धर्म में ही दिखाई देता है और इस सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुये ही उन्होने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और उसके प्रचार प्रसार के लिये कार्य किया।

****

अध्याय – 4

भारतीय राष्ट्रवाद–स्वरूप एवं आधार

- राष्ट्रवाद और उसके रूप
- भारतीय राष्ट्रवाद–क्या यह ब्रिट्रिश शासन की देन था ?
- भारतीय राष्ट्रवाद के विविध रूप

भारतीय राष्ट्रवाद–स्वरुप एवं आधार

राष्ट्रवाद की संकल्पना की व्याख्या समकालीन समाज वैज्ञानिकों द्वारा प्रायः विश्व स्तर पर सामान्यतः राजनीतिक अवधारणा और आशय के रुप में होने लगी है। कारण यह है कि 18वीं और 19वीं शदी की औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही पूरे विश्व में औपनिवेशिक एवं साम्राज्यवादी शासनों से मुक्ति पाकर राष्ट्र–राज्यों का उदय हुआ है और यह प्रघटन तृतीय विश्व देशों में विशेषकर दृश्यमान है। अर्थात् एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों में। इन देशों में आज भी स्वशासी राष्ट्र–राज्यों की स्थापना के संघर्ष जारी हैं। तृतीय विश्व देशों में भारत का राजनीतिक राष्ट्रवादी स्वरूप विश्व के सबसे बड़े समाजवादी जनतांत्रिक ढाँचे के रुप में उभरा है। राष्ट्रीयता वस्तुतः विशिष्ट सांस्कृतिक अस्मिता का द्योतक है और राष्ट्रवाद उसी अस्मिता के साथ अप्रतिम रुप सें उस संस्कृति से सम्बद्व लोगो का भावनात्मक एंव चेतनात्मक उद्‌गार है। अर्थात् राष्ट्रीयता एक निश्चित भू–भाग में निवास करने वाले जन समुदाय की संस्कृति का परिचायक प्रतिनिधान है और राष्ट्रवाद उस संस्कृति से जुड़ी सामूहिक अस्मिता, वैशिष्ट्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा एवं मतैक्यपूर्ण लगाव है।

सामान्यतः राष्ट्रवाद की संकल्पना को पाश्चात्य चिन्तन की उपज माना जाने लगा है जो पूर्णतः अतार्किक एंव भ्रान्तिपूर्ण है। कुछ प्रमुख समाज वैज्ञानिक भारतीय राष्ट्रवाद को ब्रिटिश उप निवेशवाद द्वारा अविभूर्त आर्थिक दशाओं का परिणाम मानते हैं।[1] या पाश्चात्यवाद के प्रभाव से उनके विचार पूर्णतः ढके हुये हैं। या फिर वे भारत की संस्कृति एवं राजनीतिक इतिहास के घटनाक्रमो की अनदेखी करते हैं।

---

1. देसाई ए0 आर0, भारतीय राष्ट्रवाद का सामाजिक पृष्ठभूमि, पापुलर बुक डिपो, बम्बई, 1959

यह सत्य है कि बिट्रिश शासन काल के दौरान भारत में राष्ट्रवाद की भावना एवं राजनीतिक सक्रियता विशेष प्रखर एवं मुखर हुई किन्तु इतिहास के विभिन्न काल क्रमो के सर्वेक्षण से परिलक्षित होता है कि भारत के वैदिक संस्कृति में भी राष्ट्र की संकल्पना उजागार रही चाहे वह महाभारत का प्रकरण है या स्मृतियों का युग हो। पुनः भारत के प्राचीन, मध्य कालीन व आधुनिक इतिहास तक विशेष कर चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर गुप्तों के शासन काल तक और आगे तुर्कों और मुगलों के साम्राज्य तक भारत के राष्ट्रीय चरित्र एवं भारतीय राष्ट्रवाद का उल्लेख है।

अकबर के शासन काल का तत्कालीन विक्टोरिया युग के अंग्रेजी राष्ट्रकवि अल्फ्रेड टेनिसन ने अपनी कविता 'अकबर्स ड्रीम' में अकबर के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं शासन शैली तथा तत्कालीन समाज के चिन्तन को व्यक्त किया है।[1] उक्त पंक्तियो की आख्या से परिलक्षित होता है कि सम्राट अकबर ने हिन्दू, मुस्लिम, इसाई, सिख, बौद्ध सभी धर्मो को समादर की कसौटी पर रखा। उनकी अभिलाषा भारत में एकता, अखण्डता और राष्ट्रीय सम्प्रभुता को ही स्थापित करने की रही। स्वाभाविक है कि एक ही पृष्ठ भूमि में हिन्दू, मुस्लिम एवं अन्यान्य साम्प्रदायिक समूहों को लाकर आरूढ़ करने का उसका प्रयास इसी दृष्टि से राष्ट्रीयता का प्रयास कहा जा सकता है।

राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद किसी एक भाषा–भाषी समूह या सम्प्रदाय या प्रजाति द्वारा आबद्ध नही होता, अपितु–इसमें भाषा, धर्म प्रजाति एवं नश्ल के जन समूहो की सामूहिक चेतना समाविष्ट रहती है।

---

1. त्रिपाठी, सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्णदत्त, भारतीय राष्ट्रवाद स्वरूप एवं विकास विश्वविद्यालय वाराणसी–1990, पृष्ठ–126

राष्ट्रवाद और उसके रुप

राष्ट्रवाद जिसका अन्वेषण मानव ने किया है, एक अत्यन्त प्रभावशाली निश्चेतक है। इसके धूम के प्रभाव से राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता राष्ट्र के संवर्द्धन एवं विकास के संदर्भ में व्यवस्थित कार्यक्रम को कार्यान्वित करने लगती है तथा कभी–कभी इस दिशा में अपने नैतिक मानदण्डों की उपेक्षा करते हुये संघातिक कार्य करने को तैयार हो जाती है।

'राष्ट्रवाद की परिभाषा करते हुये आर्नोल्ड टायनबी का कथन है कि राष्ट्रवाद एक शक्ति है जो समाज या जाति को राज्य के अन्तर्गत एक निश्चित तौल में निरंकुश शक्तियों के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा के लिये तथा बाह्म आक्रमण के विरुद्ध अपनी स्वतत्रता की रक्षा के लिये एक साथ रहने को बाध्य करती है।"[1] राष्ट्रीयता उस स्थिति का नाम है, जिसमें लोग अपने को एक राष्ट्र का अंग मानने लगते है। लार्ड ब्राइस के शब्दों, में "राष्ट्र एक जातीय समूह है, जिसने एक राजनीतिक निकाय के रूप में अपना संगठन बना लिया है तथा जो या तो स्वतन्त्र है या स्वतत्रता का इच्छुक है।"[2]

विकास के भिन्न–भिन्न धरातलों पर स्थित देशो में राष्ट्रवाद का स्वरुप भिन्न–भिन्न रहा है। मुख्यतः इसकी दो धरायें रही है–

1 औपनिवेशिक राष्ट्रवाद

पश्चिम के विकसित देशों के राष्ट्रवाद का स्वरुप औपनिवेशिक था। यूरोप के स्वतत्र देशों में राष्ट्रवाद का विकास पोप की लौकिक सत्ता की समाप्ति के बाद हुआ। 1648 की वेस्ट फेलिया की संधि के बाद यूरोप में राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ

---

1. वही (उद्धृत) पृष्ठ–41
2. वही,

इन्होंने विश्व की तथा कथित असभ्य जातियों को सच्चे धर्म और सभ्यता का प्रकाश प्रदान करने का भार अपने ऊपर ले लिया। श्वेत लोगों के भार के सिद्वान्त ने साम्राज्यवाद का रुपधारण किया। पामर और पर्किन्स के शब्दों में, "अपने बाद के युग में साम्राज्यवाद की प्रक्रिया का प्रारम्भ राष्ट्रवाद के द्वारा किया गया।"[1] बिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रुस, जापान आदि विकसित देशो में "विशुद्व राष्ट्रवाद ने सरकारों को साम्राज्यवाद के मार्ग पर चलने को विवश कर दिया।"[2]

2. उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद

पराधीन देशों का राष्ट्रवाद इसके ठीक विपरीत था। इसे हम उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद कह सकते है। एशिया और अफ्रीका के निर्धन, दुर्बल और पिछड़े हुये देशों में इस प्रकार के राष्ट्रवाद का उदय हुआ। जैसा कि पं0 जवाहर लाल नेहरू कहा करते थे–इस प्रकार के राष्ट्रवाद का अर्थ अत्यंत स्पष्ट था– विदेशी शासन का अन्त। अफ्रीका और एशिया के पराधीन राष्ट्रों के लोग धीरे – धीरे अपने विदेशी शासको के विरूद्ध उठ खड़े हुये। उन्होने स्व शासन की मांग की। इस प्रकार का राष्ट्रवाद अपनी अस्मिता को जागृत करने, राष्ट्रीय स्वतंत्रता को प्राप्त करने तथा अपनी इच्छानुसार अपना विकास करने का संकल्प था। भारतीय राष्ट्रवाद का उदय कब और कैसे हुआ? इसको निश्चित तिथि में नही जकड़ा जा सकता है परन्तु यह निश्चित है कि भारतीय राष्ट्रवाद की संकल्पना वैदिक काल से चली आ रही है। परन्तु वर्तमान में इसका संबंध विश्व के उन तमाम पराधीन देशों की तरह है जो अपनी स्वतंत्रता के लिए अपने को देश पर बलिदान कर देते है। तो क्या भारतीय राष्ट्रवाद का विकास भी बिटिश शासन के कारण ही हुआ?

भारतीय राष्ट्रवाद– क्या यह बिट्रिश शासन की देन था?

भारतीय राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद की श्रेणी में आता है। ब्रिट्रिश अधीनता में आने से पूर्व भारत एक भौगोलिक इकाई था तथा उसके विभिन्न भाग सांस्कृतिक एकता में आबद्ध थे। परन्तु उसमें राजनीतिक और प्रशासनिक एकता का अभाव था। कुछ विद्वानो का मत है भारत में राष्ट्रवाद का विकास ब्रिटिश शासन की देन हैं। प्रे0 कूपलैण्ड ने लिखा है कि "भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिट्रिश शासन राज्य का शिशु था और ब्रिटिश अधिकारियों ने इसे अपना आशीर्वाद प्रदान किया"।[1] यह कहा जाता है कि भारत में ब्रिट्रिश शासन के दो विरोधी स्वरूप थे। क्रान्तिकारी और प्रतिक्रियावादी इन दोनो ने ही भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में योगदान दिया। ब्रिट्रिश शासन के क्रान्किारी प्रभावों में राजनीतिक एकता की स्थापना पश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात, समाचार पत्रों एवं साहित्य की प्रगति परिवहन संचार सांधनों का विकास विदेशी यात्राओं का प्रचलन औद्योगीकरण सामाजिक ढांचें में परिवर्तन आदि का उल्लेख किया जाता है। इसलिए डॉ० बी० आर पुरोहित का मत है कि "भारतीय राष्ट्रवाद का विकास अनेकानेक सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों की क्रिया और परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम था जो ब्रिटिश युग में विकसित हुई है। मध्ययुगीन भारतीय समाज आधुनिक राष्ट्रीय समाज में रूपान्तरित हो गया है।"[2] ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावाद प्रभावों में अंग्रेजों का दमनकारी शासन, जाति विभेद की नीति, भारतीय शिल्प कलाओं का विनाश और आर्थिक शोषण आदि आते हैं। ब्रिटिश शासन के इन दोनो प्रकार के प्रभावों ने भारत मे राष्ट्रवाद के विकास को बहुत प्रभावी किया। परन्तु ब्रिट्रिश राज्य के लिए भारतीय राष्ट्रवाद का समर्थन

---

1. त्रिपाठी सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्णदत्त, (उद्धृत) पूर्वोक्त, पृष्ठ–42
2. वही,

और पोषण करना सम्भव ही नहीं था। क्योकि ब्रिटिश राज्य का अंत भारतीय राष्ट्रवाद का स्वाभाविक और तार्किक ध्येय था। वस्तुतः एक ओर तो अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रवाद के अस्तित्व को नकारने का प्रयत्न किया तथा दूसरी ओर जब भारत में राष्ट्रवाद की भावना प्रबल होने लगी तब अंग्रेजो ने उसे कुचलने का भरपूर प्रयास किया। वास्तविकता यह है कि राजनीतिक एकता और राष्ट्रवाद की भावना को उत्पन्न करने का श्रेय सम्राज्यवादी शासको को उतना नहीं है जितना कि औद्योगिक क्रांति और आवागमन के साधनों की प्रगति से उत्पन्न हुई परिस्थितियों को है । औद्योगिक क्रांति का प्रारम्भ 18वीं शताब्दी में यूरोप में हुआ था। इससे इसमे पहले संसार के किसी भी भाग में न तो स्थाई राजनीतिक एकता की स्थापना हो सकी थी और न ही राष्ट्रीयता की भावना का समुचित विकास हुआ था। औद्योगिक क्रांति के बाद संसार के उन सभी भागों में राष्ट्रीय भावना का विकास प्रारम्भ हो गया जहां एक मूलभूत संस्कृति, जाति, भौगोलिक एकता पाई जाती थी। फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी, इटली, आदि ऐसे ही देश थे। भारत हजारों वर्षो से एक सांस्कृतिक और भौगोलिक इकाई रहा है। सम्राट अशोक, समुद्र गुप्त और अकबर आदि के समय देश का अधिकांश भाग एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया था। परन्तु परिवहन और संचार के समुचित साधनों के अभाव के कारण यह राजनीतिक एकता स्थायी नहीं रह सकी। यदि भारत ब्रिट्रिश साम्राज्य के अन्तर्गत नही भी आया होता, तब भी उसकी सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता के कारण 20वीं शाताब्दी में औद्योगीकरण तथा परिवहन और संचार के आधुनिक साधनों के विकास के बाद भारत में राष्ट्रवादी भावना का विकास अवश्यम्भावी था।

यद्यपि मुलतः भारत में राष्ट्रवाद की भावना उसकी भौगोलिक और सांस्कृतिक

एकता तथा आधुनिक औद्योगिक युग की शक्तियों से उत्पन्न हुई थी, पर उसका सन्दर्भ ब्रिटिश साम्राज्यवाद था। भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन का जन्म ब्रिटिश आधित्य की चुनौती का सामना करने के लिये हुआ था। पराधीनता की श्रृंखलाओं को तोड़ना, देश प्रेमी भारतीयों की प्रेरणा बन गयी। भारतीयों और अंग्रेजो के हितों में विरोध था। समय के साथ–साथ धीरे–धीरे भारतवासी इस विरोध को अधिकाधिक महसूस करने लगे। इससे विदेशी शासन के प्रति कटुता बढ़ी और इस कटुता से विदेशियों को देश से बाहर निकालने के लिए राष्ट्रवादी आन्दोन का उद्भव हुआ।

भारतीय राष्ट्रवाद के विविध रुप

वस्तुतः भारतीय राष्ट्रवाद एक क्रमिक विकास का परिणाम है हम उसके अनेक रूप पाते है–

1. पुनर्जागरण तथा सुधार के युग का राष्ट्रवादः

भारतीय राष्ट्रवाद का प्रारम्भिक रुप 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण और सुधारवाद के रूप में समाने आया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की सफलता ने देश प्रेमी भारतीयों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया कि भारत पराधीनता की श्रृंखलाओं में क्यों बंध ाता जा रहा है तथा उसकी दुर्दशा को कैसे सुधारा जा सकता है? उन्होने पाया कि इसके लिए मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक आधुनिक राष्ट्रीय समाज में रुपान्तरण आवश्यक था। वे इस प्रयत्न में जुट गये। इससे 19 वी. शताब्दी से भारत में पुनर्जागरण तथा सुधार का एक नया युग प्रारम्भ हुआ।

पुनर्जागरण युग के भारतीय राष्ट्रवाद का स्वर सुधारवादी था, परन्तु उसकी दो धाराएं थी जो अलग–अलग स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करती थी। ये स्त्रोत थे। पश्चिम की आधुनिक संस्कृति और प्राचीन भारतीय संस्कृति। इनमें से पहले सुधारवादी और दूसरे पुनरुत्थानवादी कहलाये। सुधारवादी राष्ट्रवाद सम्बन्धी आन्दोलनों में ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज का नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्म समाज का विकास राजाराम मोहन राय के नेतृत्व में बंगाल और उत्तरी भारत के अन्य भागों में हुआ, जबकि प्रार्थना समाज महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के अन्य भागों में लोक प्रिय हुआ डॉ० पुरोहित के अनुसार ब्रह्म समाज (1928) उदीयमान राष्ट्रीय जागरण की प्रथम धार्मिक अभिव्यक्ति था।[1] राजाराम मोहनराय और अन्य अनेक उदार सुधारक आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा पाकर लोकतन्त्र, बुद्धिवाद और उदारवाद के पश्चिमी विचारों से प्रभावित हुय। वे हिन्दू धर्म और समाज को इन नवीन सिद्धान्तों के अनुसार सुधारने को प्रेरित हुए। उनका यह प्रयत्न राष्ट्रीय चेतना के विकास में पहला कदम था। अपने विकास के इस प्रारम्भिक चरण में भारतीय राष्ट्रवाद का सामाजिक आधार अत्यन्त संकुचित था तथा यह बुद्धिजीवियों तक सीमित था। डॉ० आर० सी० मजुमदार ने लिखा है कि राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे, जिन्होनें अपने देशवासियों के कष्टों तथा शिकायतों को ब्रिटिश सरकार के सामने रखा और संगठित होकर वैधानिक आन्दोलन का मार्ग दिखाया।.डा0 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन्हे 'भारत में संवैधानिक आन्दोलन का जनक माना है। एनी बेसेन्ट के अनुसार राजा–"राममोहन राय में एक अद्‌भुत, शक्ति, लगन और दृढ़ता थी। उन्होनें साहस पूर्वक हिन्दू कट्‌टर पंथी सीमा को तोड़ने का प्रयत्न किया और स्वतन्त्रता का बीज बोया, जिसने पुष्पित, पल्लवित और फलवान होकर राष्ट्र के जन

1. पुरोहित बी0 आर0, हिन्दू रिवाईवलिज्म एण्ड इंडियन नेशनललिज्म, साही प्रकाशन, सागर, पृष्ठ–160

जीवन की नयी चेतना को अनुप्राणित किया।[1]

19 वी.शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण काल की दूसरी धारा पुनरुत्थानवादी थी। यह धारा धार्मिक, सामाजिक ,सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलन के रुप में हिन्दू समाज के सामने एक ऐसे आन्दोलन की भांति थी, जो हिन्दू समाज के सामने ऐसा आदर्श प्रस्तुत करती थी, जिसकी जड़ें भारत के प्राचीन इतिहास में थी। वस्तुतः यह धारा हिन्दू धर्म के आदि स्वरुप के प्राचीन सिद्वान्तों और परम्पराओं पर आधारित थी। पुनरुत्थानवादी सुधारक अतीत से प्रेरणा ग्रहण करके उसके आधार पर भविष्य की रचना करना चाहते थे। लाला लाजपत राय के अनुसार सुधारवादियों और पुनरुत्थानवादियों में यह अन्तर है कि प्रथम (सुधारवादी) तर्क बुद्धि और यूरोपियन समाज के अनुभव पर अधिक भरोसा करने के लिए कटिबद्ध है जबकि दूसरे (पुनरुत्थानवादी) मुख्यतः अपने शास्त्रों और प्राचीन इतिहास और अपने लोगों की परम्पराओं और देश की उन प्राचीन संस्थाओं से प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति रखते हैं, जो उस समय स्थित थी, जब राष्ट्र अपने गौरव के उच्चतम शिखर पर था।'' आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल आन्दोलन प्रमुख पुनरुत्थानवादी आन्दोलन थे। आर्य समाज की स्थापना 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक धर्मपरायणता की बुराइयों पर प्रहार किया और भारतीयों को वेदों की ओर लौटो का मन्त्र दिया। स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य शब्द पर बल देकर आर्य समाज को एक राष्ट्रीय चरित्र प्रदान कर दिया। इसी आधार पर हंस काहन ने आर्य समाज को एक धार्मिक तथा साथ ही एक राष्ट्रीय आन्दोलन कहा है।[2] रामकृष्ण मिशन के प्रधान महापुरुष स्वामी विवेकानन्द थे। जहां आर्य समाज ने यह सिद्ध किया कि हिन्दू धर्म संसार के किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण

---

1. एनी बेसेन्ट, हाऊ इण्डिया रौट फॉर फीडम, पृष्ठ–51
2. त्रिपाठी सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्णदत्त, (उद्धृत) पूर्वोक्त, पृष्ठ–44

है। स्वामी विवेकानन्द ने यह सिद्ध किया कि हन्दू धर्म का आध्यामिक पक्ष किसी भी अन्य धर्म से ऊंचा है।

उन्होने कहा एक बार पुनः भारत को विश्व विजय करना होगा। देशवासियों जागो। अपनी आत्म शक्ति से विश्व को जीत लो। भारत के इस महान सन्त का देश–विदेश में गहरा प्रभाव पड़ा और वह राष्ट्रीय चेतना पुनर्जीवन का प्रतीक बन गया। थियोसोफिकल सोसाइटी की सर्वोत्तम प्रतिनिधि श्रीमती एनी बेसेंट थी। श्रीमती बेसेंट को विश्वास था कि केवल हिन्दू धर्म ही राष्ट्रीय आन्दोलन का स्रोत हो सकता है। बेसेंट ने इंडियन होमरुल आन्दोलन संगठित कर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव डाली। यद्यपि वे गांधी जी के आन्दोलन के प्रति उत्साही नहीं थी फिर भी जैसा कि सरोजनी नायडू का मत है " यदि एनी बेसेन्ट नही होती तो गांधी भी नही हो सकते थे"।[1]

हिन्दुओं को भांति मुसलमानों में भी 19वीं शताब्दी में सुधार आन्दोलन संगठित हुये। सर सैयद बरेलवी का बहावी आन्दोलन, सर सैय्यद अहमद खां का पशिचिमी शिक्षा प्रसार आन्दोलन और मिर्जा गुलाम अहमद के कादियानी आन्दोलन प्रमुख थे, इनमें सर सैय्यद अहमद खां सर्वाधिक प्रभावशाली थे। वे प्रारम्भ में राष्ट्रवादी थे, परन्तु बाद में साम्प्रदायिकतावादी हो गये। मुसलमानों के अन्य अनेक नेता जैसे मो. इकबाल, मो. अली और मो. अली जिन्ना आदि भी प्रारम्भ में राष्ट्रवादी थे' परन्तु बाद में उन्होनें मुसलमानों को एक अलग राष्ट्र मानना प्रारम्भ कर दिया। वे मुख्य भारतीय राष्ट्रवादी धारा से अलग हो गये।

---

2. उदारवादी राष्ट्रवाद– पुनर्जागरण के युग के सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों को भारतीय राष्ट्रवाद की नींव कहा जा सकता है। उनसे जो राष्ट्रीय जागृति हुई, उसने सन् 1985 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया। यद्यपि कांग्रेस की स्थापना में एलेन ऑक्टेवियन हयूम जैसे अंग्रेज अधिकारियों ने भी सक्रिय भाग लिया था, जिनका विचार था कि भारतीय जनता का असन्तोष एक क्रांतिकारी विस्फोट के बहुत समीप पहुंच गया है तथा ब्रिटिश साम्राज्य की इस विद्रोह से रक्षा करने के लिए एक रक्षा नली की आवश्यकता थी। उनको आशा थी कि कांग्रेस देश की असन्तोष की भावनाओं को वैधानिक रुप से प्रकट होने का मार्ग देकर सशस्त्र विद्रोह की सम्भावनाओं को दूर कर देगी। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षक के रुप में परिकल्पित कांग्रेस शीघ्र ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का अग्रभाग बन गयी। एन0एन0गुप्त के अनुसार–''भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास भारत में राष्ट्रीय जागरण का इतिहास है''।[1] यह वह इंजन था, जो अन्य डिब्बों और बैगनों की खीच रहा था। परन्तु उनमें से कुछ के चक्के जाम थे और जोड़ने वाली जंजीर टूटी थी,जो स्थिर थे और उन्हें चलाया नहीं जा सकता था। आज भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत का प्रधान राजनीतिक दल है।[2] परन्तु 15 अगस्त 1947 से पहले कांग्रेस न केवल एक राजनीतिक दल था, अपितु तथ्येन एकमात्र राजनीतिक दल था। सिवाय इसके कि 1940 के बाद मुस्लिम लीग ने भी धीरे –धीरे बहुसंख्यक मुसलमानों के सम्बन्ध में यही स्थिति प्राप्त कर ली थी। इससे भी अधिक यह भारतीय राष्ट्रवादका पर्यायवाची बन गया। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय राष्ट्रवाद की और कोई धारा प्रवाहमान नहीं थी। क्रान्तिकारी जिन्होनें निरन्तर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की नींद हराम की तथा उदारवादी, जिन्होंने कांग्रेस और

---

1. गुप्ता, नगेन्द्र,नाथ, इण्डियन नेशनलिज्म, हिन्द किटलस लि0, बम्बई, 1946, पृष्ठ–137
2. वही पृष्ठ–85

सरकार के बीच शान्तिदूतों का कार्य किया, राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण तत्व थे। परन्तु जहां कांग्रेस हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा बारहमासी गंगा थी, वहां दूसरी या तो इसकी सहायक नदियां थीं या छोटे नद थे, जिनमें बरसात में बाढ़ आ जाती है, पर जो बाद में सूख जाते हैं।"[1] जैसा कि आर० सी० मजूमदार का मत है, यह कहना (जैसा कि बहुत से लोग कहते है,) ऐतिहासिक रुप से ठीक नहीं है कि भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि पहले और बाद में दोनों समय अन्य अनेक शक्तियां और अभिकरण थे, जो समान उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे। तब भी स्वतन्त्रता के लिए भारत के कठोर संघर्ष के किसी भी अध्ययन में कांग्रेस सदा ही केन्द्रीय विषय होगी। यही वह धुरी है जिसके चारों ओर स्वतन्त्रता की महान गाथा घूमती या विकसित होती है।

1885 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरुप उदारवादी था। उदारवादी राष्ट्रवाद ब्रिटिश सम्राट के प्रति राजभक्ति मे कोई विरोध नहीं मानता था। उदारवादियों को अंग्रेजो की न्यायप्रियता मे विश्वास था। वे ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध को भारत के हित में समझते थे। उन्होंने शासन सम्बधी अनेक सुधारों की मांग की परन्तु वे इन मांगों की पूर्ति के लिए निजी शासन विरोधी आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे। उनको विश्वास था कि "प्रार्थनाओं और आवेदन पत्रों" के द्वारा ब्रिटिश सरकार को आवश्यक सुधार करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। उनकी यह नीति भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में "राजनीतिक भिक्षुकवृत्ति" के नाम से विख्यात हुई। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, उमेशनाथ बनर्जी, पं० मदन मोहन मालवीय, दीनेश एटलजी वाचा, फिरोजशाह मेहता, महादेव गोविन्द रानाडे

1. कौशिक पी०डी०, द कांग्रेस अइडियोलाजी एण्ड प्रोग्राम 1920–85, गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, 2/12 विक्रम विहार लाजपत नगर, नई दिल्ली पृष्ठ–2–3

और बदरुद्दीन तैय्यब जी प्रसिद्व उदारवादी राष्ट्रवादी नेता थे।

उदारवादी राष्ट्रवाद की यह कर आलोचना की जाती है कि उनकी राजनीतिक मनोवृत्ति सही नहीं थी और उनके द्वारा अपनाये गये साधन प्रभावहीन थे। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजो की न्यायप्रियता में उनका विश्वास आधारहीन था। उदारवादी नेता जननेता नहीं थे तथा उनका सामान्य जनता से सम्पर्क नहीं था। फिर भी इन दुर्बलताओं के बावजूद, 'राजनीतिक भिक्षुकवृत्ति' के होते हुए भी उदारवादी सम्प्रदाय के प्रारम्भिक कांग्रेसियों को अंग्रेजियत लिए हुए प्रचारकों और राजनीतिज्ञों अथवा नकली देशभक्तों का कारवां नही कहा जा सकता। वे बाद के गांधीवादियों से देशभक्ति में भिन्न नही थे, अपितु केवल दृष्टिकोण और पद्वतियों में भिन्न थे।[1] उन्होंने भारतीयों को साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय धरातल से ऊपर उठ कर सामान्य राष्ट्रीयता को हृदयंगम करने का सन्देश दिया। इस प्रकार उन्हें भारतीय र5ाद का जनक कहा जा सकता है। डॉ० पट्टाभि सीता रमैय्या के शब्दों में "उन्होने राष्ट्रीयता के विशाल भवन की नींव के रुप में कार्य किया।"[2]

3. उग्रवादी राष्ट्रवाद– उदारवादियों के सिद्धान्त और पद्धतियां अनेक–राष्ट्रवादियों को प्रभावहीन प्रतीत हुई। लाला लाजपतराय के शब्दों में शिकायतें दूर करने और रियायतें प्राप्त करने के 20 वर्षो के कम अधिक प्रयत्नों के परिणाम–स्वरुप उन्हें रोटी के स्थान पर पत्थर प्राप्त हुए थे। 1882 का भारतीय परिषद अधिनियम भारतीयों की महत्वपूर्ण मांगों को पूरा करने में असफल रहा। इससे राष्ट्रवादियों में राजनीतिक असन्तोष बढ़ा। उसी समय अनेक महत्वपूर्ण

1. कौशिक, पी०डी०, पूर्वोक्त, पृष्ठ–25–26
2. डॉ० पट्टाभि सीता रमैय्या, कांग्रेस का इतिहास, पृ० 97

घटनाओं ने उग्रवादी राष्ट्रवाद के उद्‌भव का पथ प्रशस्त किया। उनमें से प्रमुख थी– 1896–97 का भीषण अकाल तथा उसी समय 1867 के दिल्ली दरबार। में धन का खुला अपव्यय, बम्बई प्रांत में प्लेग की महामारी उसका मुकाबला करने में सरकार की असफलता तथा प्लेग कमिश्नर रैण्ड और सेना के अमानवीय व्यवहार के विरोध में रैण्ड की हत्या के आरोप में तिलक की गिरफ्तारी, सरकार की भारत विरोधी आर्थिक नीति और 1994 में विदेशी माल पर से आयात कर की समाप्ति, 1904 में एशियाई जापान के हाथों यूरोपीय रुस की पराजय, लार्ड कर्जन के प्रतिक्रियावादी कदम विशेष कर 1905 में बंगाल का विभाजन। इन सब घटनाओं के फलस्वरुप भारतीय देशभक्तो के एक वर्ग ने एक नयी विचारधारा और राजनीतिक संघर्ष के अधिक प्रभावशाली साधनों को अपनाया। वे उग्रवादी कहलाये। बाल गंगाध ार तिलक, विपिन चन्द्रपाल, लाला लाजपत राय, अरबिन्द घोष आदि उग्रवादी राष्ट्रवाद के प्रमुख कर्णधार थे।

उग्र राष्ट्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ साथ उदारवादी राष्ट्रवाद के विरुद्ध भी एक विद्रोह था। उदारवादी भारत और ब्रिटेन के हितों में समानता मानने पर उग्रवादी उन्हें एक दूसरे का विरोधी मानते थे। उदारवादियों का ब्रिटिश शासन न्याय भावना में विश्वास था, उग्रवादियों का नही। उदारवादियो का विश्वास था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया जा सकता है और क्रमिक सुधार किया जाना चाहिये। उग्रवादी इसे मृगतृष्णा समझते थे। उदारवादी अपनी राज्यभक्ति के पुरस्कार के रुप में 'औपनिवेशिक स्वायत्त शासन' चाहते थे। परन्तु उग्रवादी तिलक का नारा था, "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्व अधिकार है और उसे हम अपने बल से प्राप्त करेगे। हम उसे उपहार के रुप में नही चाहते हैं।"

उग्रवादी और उदारवादी राष्ट्रवाद का अन्तर राजनीतिक विचारों और लक्ष्यों की अपेक्षा साधनों मे अधिक सुस्पष्ट था। उदारवादियों की नीति रक्षात्मक थी। उग्रवादियों की नीति आक्रामक थी। उदारवादी प्रार्थनाओं और आवेदन पत्रों में विश्वास करते थे, उग्रवादी विरोध और आन्दोलन में। उदारवादी प्रस्ताव पास करने और शिष्टमण्डल भेजने के संवैधानिक साधनों से काम लेते थे, राष्ट्रवादी बहिष्कार, शांतिपूर्ण प्रतिरोध स्वदेशी राष्ट्रीय स्कूलो और पंचायतों के कार्यक्रम के समर्थक थे। उग्र राष्ट्रवादियो के प्रभाव से देश भर में बंग–भंग की नीति के विरुद्ध एक तीव्र आन्दोलन चला। वन्दे मातरम् स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के नारों ने जनता की मोहनिद्रा को भंग कर दिया।

भारतीय राष्ट्रीयता के विचारकों में महामना पं0 मदन मोहन मालवीय के नाम उल्लेखनीय हैं, महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में मालवीय जी भारत के कर्णधार एवं अग्रगण्य महापुरुष थे। भारतीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय आन्दोलन को वह वाणी देने वाले थे। डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद (भारत के प्रथम राष्ट्रपति) के शब्दों में मालवीय जी ही भारतीय राष्ट्रीयता संग्राम के ऐसे कर्णधार रहे है, जो उदारवादी और उग्रवादी दलों के बीच की कड़ी की भांति थे। महात्मा गांधी उन्हें अपना पूज्य बड़ा भाई मानते थे। उन्होंने शिक्षा जगत, महिला उद्वार, सती प्रथा, बाल विवाह विरोध, हरिजन उद्वार, प्रेस ऐक्ट विरोध, कृषि उत्थान, स्वेदेशी आदि क्षेत्रों में समान रुप से कार्य किया था। उन्होंने राष्ट्रीयता को जाति, धर्म, सम्प्रदाय से ऊपर बताते हुए कहा था घर में हमारा धर्म ब्राह्मण धर्म, परिवार में सनातन धर्म समाज में हिन्दू धर्म देश में स्वराज्य धर्म तथा विश्व में मानव धर्म है।[1]

मालवीय जी ने राष्ट्रीय चरित्र को धर्म, जाति, सम्प्रदाय, सबसे ऊपर बताते

1. द्विवेदी, डॉ कृष्णदत्त, भारतीय पुनर्जागरण और मदनमोहन मालवीय, विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1982, पृ 123

हुए कहा था–राष्ट्रीयता की भावना के अभाव के कारण ही हम धर्म, सम्प्रदाय, जाति आदि के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। राष्ट्र धर्म देशवासियों का सबसे बड़ा धर्म और कर्म है।[1] हमारे संघर्ष का कारण इस राष्ट्रीयता के वास्तविक महत्व को न समझने के कारण ही है। अतः हमें भी जर्मनी,जापान आदि की भांति राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय शिक्षा का व्यापक प्रसार करना चाहिये । वह शास्त्रीय विधियों का यन्त्रवत पालन करना हानिकर मानते थे। और भारत में अनेकता में एकता का स्वरुप देखा था। उन्होने उदारवादी और उग्रवादी विचारों को राष्ट्रीयता के आधार पर गति प्रदान की। उग्रवादी राष्ट्रवाद हिन्दू धार्मिक पुनरुत्थान से गहराई से प्रभावित था। उग्रवादी नेताओं ने अशोक और चन्द्रगुप्त के शासन राणा प्रताप और रानी झांसी की वीरता और देश प्रेम की अलख जगायी। लोकमान्य तिलक ने गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव का आयोजन कर महाराष्ट्र में नवचेतना क संचार किया। उन्होंने राष्ट्रवादी आन्दोलन को देश के अतीत और उसकी सांस्कृतिक नीवों से जोड़ दिया। सरकार ने उनका कठोरता से दमन किया। तिलक को 1908 में छः वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। लाला लाजपत राय और सरदार अजीत सिंह को पंजाब में बन्दी बनाकर निर्वासित कर बर्मा भेज दिया गया। अरविन्द घोष को 1908 में गिरफतार कर उन पर मुकदमा चलाया गया। उग्रवादियों ने बहुत कष्ट सहे पर उन्होने भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन के इतिहास में एक गौरवपूर्ण अध्याय जोड़ा। उन्होने इसके उद्देश्यों को स्पष्ट किया, लोगो को आत्मविश्वास आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान की शिक्षा दी तथा निम्न मध्यम वर्ग, विद्यार्थियों युवकों और महिलाओं को आन्दोलन में सम्मिलित करने का सामाजिक आधार तैयार किया। राजनीतिक आन्दोलन की नवीन पद्वतियों और राजनीतिक संघर्ष को चलाने के नवीन प्रकार

1. वही, पृ. 126–127

प्रारम्भ किये।

प्रथम विश्व युद्व (1914–1918) के दौरान उग्रवादी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रभावशाली हो गये, उदारवादी पीछे रह गये। 1916 में लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में दो होमरुल लीगों की स्थापना हुई। इन लीगों ने भारत के लिए उसी प्रकार के औपनिवेशिक स्वराज की मांग की जिस प्रकार का स्वराज कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि ब्रिटिश डोमिनियनो को प्राप्त था।

4. जनतावादी राष्ट्रवाद या गांधी युग का राष्ट्रवाद

1920 में मोहनदास करमचंद गांधी ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सर्वोच्च और निर्विवाद नेता का स्थान ग्रहण कर लिया। गांधी जी के नेतृत्व ने जिस नवीन युग का शुभारंभ किया, वह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व परिवर्तन मात्र नहीं था, अपितु एक वास्तविक क्रांति थी। इसने भारतीय राष्ट्रवाद को नवीन रुप प्रदान किया। यह एक बहुवर्गीय जनतावादी राष्ट्रवाद बन गया। उदारवादी राष्ट्रवाद पाश्चात्यकृत बुद्धिजीवियों का आन्दोलन था, गांधी जी ने देश की मुक्ति के लिए जो नवीन तकनीक और कार्यक्रम दिया उससे आकर्षित होकर कृषक, वकील, विद्यार्थी, नौकरी वृत्ति के लोग और महिलायें अर्थात् भारतीय जीवन के सभी पक्षों के लोग भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े।

गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद सर्वांगीण और रचनात्मक राष्ट्रवाद बन गया। इसका लक्ष्य स्वराज्य और स्वदेशी की प्राप्ति था। गांधी जी के स्वराज्य का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति नही था किन्तु भारतीय राष्ट्र का सामाजिक आर्थिक और नैतिक उत्थान भी था। वे अस्पृश्यता, बलात् वैधव्य, बाल

विवाह, पर्दा प्रथा, अशिक्षा आदि सामाजिक कुरीतियों तथा आर्थिक विषमताओं को भी दूर करना चाहते थे। उनका कहना था, 'मेरा स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य है, जीवन की आवश्यकताएं नरेशों और धनिको के साथ–साथ आपको भी मिलना चाहिये ....स्वराज्य उस समय तक पूर्ण स्वराज्य नही है, जब तक आपकी जीवनोपयोगी आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं होती।"[1]

यह एक अहिंसक और धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद था। गांधी जी सम्भवतः पहले व्यक्ति थे, जिन्होने अहिंसा को स्वतनत्रता आदोलन के कार्यक्रम का आधार बनाया। उनका राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद था, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति 1920 के असहयोग आन्दोलन में ही स्पष्ट रुप से हुई थी। जैसा कि ए. आर. देसाई का मत है इस आन्दोलन में "पहली बार हिन्दू और मुसलमानों के विशाल जन समुदायों ने एक राष्ट्रीय लक्ष्य, भारत के लिए स्वशासन के लक्ष्य के लिए परस्पर सहयोग किया। उन्होंने कांग्रेसी और राजनीतिक मुस्लिम संगठनों के सम्मिलित नेतृत्व द्वारा निर्णीत सीधी कार्यवाही के विभिन्न प्रकारों में भाग लिया।[2] इससे यह स्पष्ट रुप से प्रमाणित हो गया कि भारत के उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष ने एक धर्मनिरपेक्ष संघर्ष का रुप ले लिया, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों के हितों का प्रश्न था।

यह एक नैतिक राष्ट्रवाद था। गांधी जी ने राष्ट्रवाद को एक नवीन विचारध ारा के साथ एक नया रुप प्रदान किया। रामना मूर्ति के शब्दों में, "गांधी जी नैतिक व्यक्ति थे उन्होने राष्ट्रीय संघर्ष को एक नैतिक युद्ध की महानता प्रदान की उनसे पहले के विश्व के इतिहास में इटली, अमेरिका, आयरलैंड आदि अनेक देशों ने विदेशी साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष किया था। पर सभी ने इसके अथवा राष्ट्रीय एकीकरण की प्राप्ति के लिए हिंसा और रक्तपात का मार्ग अपनाया

1. उद्धृत, त्रिपाठी, सत्येन्द्र व, द्विवेदी कृष्णदत्त, पूर्वोक्त पृ0 49
2. देसाई, ए0आर0, सोशियल बैंक ग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म बम्बई पृ0– 407

था। सभी देशों के देश भक्तों ने मान लिया था कि साध्य साधन को उचित बनाता है। अर्थात् उच्च आदर्शो की प्राप्ति के लिए हीन साधनों को अपनाना अनुचित नहीं है। परन्तु गांधी जी का मत था, कि मेरे जीवन दर्शन में साध्य और साधन का अन्तर नहीं है''....................जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा। उन्होने साधनों की पवित्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा सत्य और अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह के नवीन ब्रह्मास्त्र का आविष्कार किया और उसके द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद को गहन धार्मिक उत्साह की ऊंचाई तक उठा दिया ।

गांधी जी के राष्ट्रवाद में उदारवादी और उग्रवादी राष्ट्रवाद का समन्वय पाया जाता है। पुनरुत्थानवाद और सुधारवाद का समन्वय मिलता है। गांधी जी उदारवादियों के समान शांतिपूर्ण साधनों में विश्वास करते थे। साथ ही उन्होने उग्रवादियों के बहिष्कार और स्वदेशी के कार्यक्रमो को अपनाया। पुनरुत्थानवादियों के समान उन्होंने राजनीति और धर्म में सम्बन्ध स्थापति किया। गांधी जी एक हिन्दू संत थे और वे उस व्यक्तित्व के प्रतीक थे, जिनकी प्रत्येक हिन्दू प्रशंसा करता था और प्राप्त करना चाहता था। वे एक हिन्दू थे पर उनका हिन्दुत्व संकीर्ण नहीं था, अपितु उदार और सहिष्णु था। उनके लिए धर्म एक सम्प्रदायवादी तत्व नहीं था, अपितु इसका अर्थ जगत के व्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास था। वे एक महान सुधारवादी थे। उनका रचनात्मक कार्यक्रम राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की बहुआयामी योजना थी तथा वह एक अहिंसक, लोकतांत्रिक और समाजवादी स्वराज्य की परिकल्पना करता था।

गांधीवादी समाजवाद का मनोवैज्ञानिक आधार निर्भयता और स्वालम्बन था। गांधी जी के रंगमंच पर आने से पूर्व भारतीय जनता एक सर्वव्यापी, दुखदायी भय

से ग्रस्त थी। उसे सेना का ,पुलिस का, अधिकारियों का, दमनकारी कानूनों का, जमींदार के गुमास्तों का, महाजन का तथा उस बेकारी का भय था, जो हर समय मुंह बाये खड़ी रहती थी। गांधी जी ने भय के इन बादलों को छिन्न–भिन्न कर दिया। उन्होने भारतीय जनता को बताया की उनके सहयोग के बिना ब्रिट्रिश राज्य टिक नही सकता। उन्हाने निर्भयता और स्वावलम्बन का सन्देश दिया वह स्वयं निर्भरता के अवतार थे। तथा वाइकाउन्ट सेमुअल के अनुसार उन्होने अपने नेतृत्व से भारतीय जनता को अपनी कमर सीधी करना सिखाया। अपनी आंखे ऊपर उठाना सिखाया तथा सिखाया अविचल दृष्टि से परिस्थितियो का सामना करना।

यह एक प्रगतिशील राष्ट्रवाद था। प्रत्येक आलोचनाओ में विशेषतः साम्यवाादियो ने गांधी युग के राष्ट्रवाद को बुर्जुआ राष्ट्रवाद कहा है परन्तु गांधी नेहरु और पटेल के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरुप धीरे–धीरे समाजवादी होता जा रहा था। बी0 बी0 रामनामूर्तिके शब्दो में 1930 का "नमक सत्याग्रह भारत में अहिंसा के इतिहास में समाजवाद के युग को प्रारम्भ करता है।"[1]

यह राष्ट्रवाद एक नवीन कार्यक्रम और नवीन तकनीको पर आधारित राष्ट्रवाद था गांधी जी ने न केवल भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन को एक जन आन्दोलन बना दिया अपितु उसे एक नवीन कार्यक्रम प्रदान करके एक क्रान्तिकारी आन्दोलन भी बना दिया। उनके पहले राष्ट्रवादी आन्दोलन एक प्रकार से वैधानिक आन्दोलन था। राष्ट्रवादी नेता धुंआधार भाषण देते थे, लेख लिखते थे, प्रस्ताव पास करते थे परन्तु उनके पास न कोई स्पष्ट लक्ष्य था और न ही अपनी मांगो को कार्यान्वित कराने कें लिए कोई ठोस कार्यक्रम ही था गांधी जी ने "स्वराज्य का लक्ष्य तथा सत्यग्रह और रचनात्मक कार्यक्रम का ठोस कार्यक्रम प्रदान किया उन्होंने स्पष्ट

---

1. उद्धृत, त्रिपाठी सत्येन्द एवं द्विवेदी कृष्णदत्त, पूर्वोक्त, पृ0 50

कर दिया कि स्वराज्य केवल भाषण देने से और प्रस्ताव पास करने से प्राप्त नहीं हो सकता। उन्होने कहा "स्वराज एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के लिए दान कदापि नही है यह एक निधि है, जिसे राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ रक्त से खरीदा जाता है।[2]" गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद के आदर्श स्पष्ट रुप से निर्धारित हुए इसके मुख्य सिद्धान्त थें अहिंसा, राष्ट्रीय एकता, जनता का उत्थान, सम्प्रदायिक सद्भाव, धार्मिक सहिष्णुता तथा जाति, धर्म और सम्प्रदाय के भेदभाव के बिना सभी लोगों के लिए नागरिक स्वतन्त्रताओ और राजनीतिक अधिकारो को व्यवस्था। बी0 आर0 पुरोहित के अनुसार–"महात्मा गांधी एक समृद्ध और बहुआयामी राष्ट्रवाद के पक्षधर थे, जिसमे राष्ट्र के प्रत्येक विधायक मात्र को पूर्ण और स्वतन्त्र रुप से विकसित होने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो। यह गांधी जी की दृढ प्रतिज्ञा थी की देश में अल्प संख्यको के धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा की जाए। यह राष्ट्रवाद इस अर्थ में धनिक तंत्र विरोधी' था कि यह लाखों अधभूखों, देश के 'दरिद्रनारायण' की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता था।[1]

5. क्रांतिवादी राष्ट्रवाद

जे. सी. जौहरी के अनुसार "क्रान्तिवादी प्रवृत्ति को उग्रवादी प्रवृत्ति का विस्तार कहा जाना चाहिऐ, जो विदेशी शासन के और अधिक दमनकारी और प्रतिक्रियावादी नीति के कारण उत्पन्न हुई।' रूसी शून्यवादियों द्वारा षड्यन्त्रकारी आतंकवाद के साधनों के प्रयोग ने क्रान्तिकारियों को ऐसे ही साधनों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया।

क्रान्तिकारियो का कार्यक्रम एक प्रकार से सरकार के विरूद्ध युद्ध की

---

1. पुरोहित, बी0आर0, पूर्वोक्त, पृष्ठ–167

घोषणा थी। अलोक प्रिय सरकारी अधिकारियों की राजनीतिक हत्या उनके कार्यक्रम का प्रमुख अंग था। अपने आन्दोलन के निमित्त धन प्राप्त करने के लिए उन्होंने सशस्त्र डकैतियों का मार्ग अपनाया। क्रान्तिकारियों का उद्देश्य नौकरशाही के मन में भारी डर पैदा कर देना, सेना में विद्रोह कराना, कृषक दंगें संगठित करना और बम के धर्म द्वारा देश को स्वतन्त्र कराना था।

बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र क्रान्तिकारियों के मुख्य केन्द्र थे। उन्होने लंदन, पेरिस और न्यूयार्क में भी अपने केन्द्र स्थापित किये। स्वामी कृष्ण वर्मा, बी0डी0 सावरकर, रास बिहारी बोस, चन्द्रशेखर आजाद, भाई परमानन्द, भगत सिंह, एम0एन0 रायऔर अरविन्द घोष आदि क्रान्तिकारी राष्ट्र के प्रमुख नेता थे। परन्तु क्रांतिकारी आन्दोलन का कोई प्रभावकारी परिणाम नहीं निकला। अंग्रेज सरकार अंततोगत्वा इसका दमन करने में सफल हो गयी।

क्रांतिकारी व्यक्तिगत हत्यायों और डकैतियों को बेकार समझते थे। वे सेना में अनुशासनहीनता और विद्रोह की भावना जगाकर संगठित विद्रोह कराकर तथा हिंसात्मक संघर्ष के द्वारा राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के प्रयास के समर्थक थे। गदर पार्टी के संस्थापक लाला हरदयाल, पंजाबी असंतोष के जन्मदाता लाला लाजपतराय तथा नेता जी सुभाषचन्द्र बोस इसी विचारधारा को मानने वाले थे। आर0 सी0 मजूमदार के अनुसार, "गांधी जी के बाद भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में सबसे प्रमुख व्यक्ति निस्संदेह सुभाषचन्द्र बोस ही थे।"[1] उन्होने गांधीवादी राष्ट्रवाद की तकनीक को अस्वीकार करके क्रांतिवादी राष्ट्रवाद का मार्ग अपनाया। वे अहिंसा के सिद्धांत को केवल एक नीति के रूप में स्वीकार करते थे। लाहौर कांग्रेस 1929 में उन्होने स्पष्ट रूप से कहा कि गांधी जी का कार्यक्रम हमें स्वतंत्रता की ओर नहीं

1. मजूमदार, आर0 सी0 हिस्ट्री ऑफ मूवमेन्ट इन इण्डिया, बम्बई–1961, पृष्ठ–167

ले जा सकता। उन्होने एक प्रतिप्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें कांग्रेस का इस बात के लिए आह्वान किया कि वे अपने संगठन का विस्तार करके एक समानान्तर सरकार का रूप ले लें। लोगों के समर्थन को संगठित करें और फिर करों की गैर अदायगी और सर्वव्यापी हड़तालों सहित एक सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करके, सामान्य प्रशासन को असम्भव बना दें जहाँ गांधी जी ने कांग्रेस ध्वज पर 'चरखे' को स्थान दिलाया, वहां सुभाष ने आजाद हिन्द फौज के ध्वज पर 'आक्रमण करते हुए चीते' को स्थान दिया, गांधी जी से मतभेदों के कारण वे भेष बदलकर मई 1941 में देश से बाहर चले गये। उन्होने बर्मा में आजाद हिन्द फौज का संगठन किया। जिसमें ऐसे साठ हजार सैनिक सम्मिलित थे, जिन्हे अंग्रेज सेनापति जापानियों की दया पर छोड गये थे। नेता जी आजाद हिन्द फौज का उद्देश्य "गृह देश में चल रहे सन्देश को पूरा करना था।" क्योंकि उनके विचार से "भारत स्वतन्त्रता के लिए परिपक्व था" परन्तु "उसके पास एक वस्तु 'मुक्ति वाहिनी' की एक कमी थी।" उनके नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज अंग्रेजो को परास्त करते हुए इम्फाल तक पहुंच गयी, परन्तु अन्त में रसद और शस्त्रास्त्रो की कमी और जापानियों से उचित और सामयिक सहायता न मिलने के कारण आजाद हिन्द फौज तितर–बितर हो गयी। भारतीय राष्ट्रवाद एक अद्वितीय राष्ट्रवाद था। मैकडोनॉल्ड के अनुसार, "भारतीय राष्ट्रवाद राजनीतिक संघो के आन्दोलन के रुप में कुछ अधिक रहा है। यह एक ऐतिहासिक परम्परा का पुनरुत्थान है। लोगो की 'आत्मा' की मुक्ति है।" गांधी जी का जनतावादी अहिंसक राष्ट्रवाद भारतीय राष्ट्रवाद का सर्वप्रधान रुप था। विश्व इतिहास में स्वतन्त्रता आन्दोलन के असंख्य उदाहरण मिलते है। परन्तु जैसा कि फ्रांसिस गुन्थर का कहना है, "भारतीय क्रान्ति इतिहास की प्रथम पूरी तरह से छल

कपट विहीन क्रान्ति है, जिसने बिना पथभ्रष्ट हुए अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पूरी तरह सम्मानित साधनों का प्रयोग किया है, यह एक ऐसी क्रान्ति है, जिसमें साधनो को उतना ही महत्वपूर्ण माना गया जितना उद्देश्यों को। यह एक ऐसी क्रान्ति है जो घृणा रहित है, जासूसी व्यवस्था विहीन है, विश्वासघात रहित है, हत्या रहित है। यह एक ऐसी क्रांति है जिमें क्रांन्ति की स्वभावत बुराइयों को निकाल दिया गया है।''[1] इस राष्ट्रवादी क्रांति की सफलता ने एक ओर तो एक विशाल, बहुभाषी और भू–राजनीतिक रुप से बिखरे हुए देश में एक शक्तिशाली, लोकप्रिय सरकार की स्थापना को सम्भव बनाया तथा दूसरी ओर एशिया और अफ्रीका के उन देशों के लिए प्रेरणा का एक महान स्रोत बन गयी जो तानाशाही विदेशी शासन से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनेक कारण थे, परन्तु उसका सर्वाधिक श्रेय गांधी जी के नेतृत्व और कांग्रेस के आन्दोलन को है। जैसा कि गांधीजी ने कहा था।''[1] 35 करोड़ लोगों के राष्ट्र को............तलवार, भाले या गोली की आवश्यकता नहीं है। उसे सीधे सादे 'नहीं' कहने की आवश्यकता है।'' भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का आधार उसकी सैनिक शक्ति नहीं थी अपितु स्वयं भारतीयों का अंग्रेजो के साथ सहयोग था। कुछ भारतवासी अपने स्वार्थों के कारण तथा अधिकांश भारतीय जनता भय और आतंक के कारण अपने को ब्रिटिश शासन का विरोध करने मे असमर्थ पाती थी। गांधी जी के नेतत्व में कांग्रेस आन्दोलन ने भारतीय जनता में एक नवीन राष्ट्रवादी चेतना भर दी जिससें वह आंतक और दमन का भय छोड़कर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपने प्राणों तक का बलिदान करने के लिए तत्पर हो गयी जैसे सन् 1920 के असहयोग आन्दोलन सन् 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन, आदि। प्रत्येक आन्दोलन ने

---

1. उद्धृत, जे सी. जौहरी, इडिन्यन गवर्नमेन्ट एण्ड पोलिटिक्स, दिल्ली, 1976, पृ0 105

इस चेतना और बलिदान के संकल्प को पहले से अधिक दृढ़ बना दिया। 1947 तक यह चेतना और संकल्प इतना दृढ़ हो गया है कि अंग्रेज के लिए भारत में अपने शासन को अधिक समय तक बनाये रखना असम्भव हो गया फरवरी 1946 में बम्बई में एक नौ सैनिक विद्रोह हुआ है जिसका एक समझौते के द्वारा अन्त कराने के लिए अंग्रेजों की काग्रेंस के एक प्रधान नेता सरदार बल्लभ भाई का सहयोग लेना पड़ा। उनके अनेक स्थानो पर सिपाहियों ने भी सरकार के विरुद्ध हड़तालें की इससे यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज शासक सेना और पुलिस पर भी भरोसा नहीं कर सकते थे। पट्टाभि सीतारमैय्या ने ठीक ही कहा है कि, "अंग्रेजो का भारत छोडने का निश्चय समय की गति और परिस्थितियों की विवशता थी।"

****

अध्याय – 5

भारतीय राष्ट्रवाद के सम्बंध में डॉ. अम्बेडकर के विचार

- भारत एक निर्माणाधीन राष्ट्र
- सजग राष्ट्रवादी–डॉ. अम्बेडकर
- अम्बेडकर के राष्ट्रवाद का आधार
- भारतीय स्वधीनतासंग्राम और राष्ट्रवाद डॉ. अम्बेडकर के विचार
- अर्थशास्त्र के ज्ञाता डॉ. अम्बेडकर
- भारत विभाजन का विरोध

भारतीय राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में डॉ0 अम्बेडकर के विचार

डॉ० भीमराव अम्बेडकर सही अर्थो में एक बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनका लालन पालन कड़े अनुशासन के वातावरण मे होने कारण वे बहुत ही संयमी एवं अनुशासित व्यक्ति थे। चूंकि अस्पृश्य परिवार में जन्म लेने के कारण जीवन मे न जाने कितनी बार धार्मिक रुढ़ियों एवं परम्पराओं का सामना करना पड़ा। जीवन के प्रारम्भ में जाति सूचक एवं अपमान जनक बातो के तीर से व्याकुल होकर सनातन हिन्दु धर्म से मोह भंग होने के कारण उन्होने बौद्ध धर्म अपना लिया।

डॉ० अम्बेडकर ने अपमानो एवं तिरस्कारों से विचलित हुए बिना अपने आप को राष्ट्र की सेवा में समर्पित कर दिया। अपने एवं अपने समाज के सम्मान के साथ–साथ राष्ट्र के सम्मान के प्रति हरदम सचेत रहे जिस कारण आज वो भारत रत्न के रुप में सुशोभित हो रहे हैं। आज सारा देश डॉ० अम्बेडकर को शत् शत् नमन करता है और स्मरण करता है, लेकिन क्या ये उनकी परिपूर्णता है? शायद नहीं। आमतौर पर शोधरत् विद्यार्थी, शिक्षाविद एवं बुद्धिजीवियों ने और खासतौर पर दलितों ने उनके कद को एक दलित नेता तक सीमित कर दिया है कुछ प्रगतिशील बुद्धिजीवी हद से हद उन्हे भारतीय संविधान का मुख्य रचना कार मानते है, इसमें भी उन्हे कुछ झिझक है। व्यक्ति, जाति, हिन्दू समाजिक ढाँचा, समाजिक न्याय, हिन्दू महिलाओं, की समसस्याओं और भारतीय अल्प संख्यको को समझने में उनके योगदान के अलावा देश तथा राष्ट्र निर्माण के सम्बन्ध में उनके विचारो के गहनता से अध्यन की अवश्यकता है।

भारत एक निर्माणाधीन राष्ट्र :-

जब हम राष्ट्र और राष्ट्र निर्माण के सम्बन्ध में डॉ0 अम्बेडकर के विचारो को देखते है तो पहली बात यह सामने आती है कि वह भारत को एक राष्ट्र नही, निर्माणाधीन राष्ट्र के रुप में देखते थे। 1930 में दलितो के लिए अलग सीटो के प्रावधान के बारे मे महात्मा गांधी के साथ छिडी बहस में उन्होने यह मत साफ कर दिया था। डा0 अम्बेडकर ने कहा था कि वास्तव में भारतीयो का कोई देश नही है।[1] एक बार फिर 26 नवम्बर 1949 को जब सदन स्वतन्त्र भारत के

संविधान को पारित करने जा रहा था तो उन्होंने अपनी राय जाहिर की थी कि हम एक देश हैं, यह सोच बड़ा भुलावा है। उन्होंने आश्चर्य जताया कि हजारो जातियों में बंटे लोग एक राष्ट्र का हिस्सा कैसे हो सकते है? जातियां राष्ट्रीयता विरोधी होती है, एक तो वे समाजिक जीवन में भेद–भाव को बढ़ावा देती हैं। दूसरे विभिन्न समूहो मे ईर्ष्या एवं विलगाव पैदा करती हैं। अगर हम राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो हमे इन कठिनाईयों को दूर करना होगा। भाई चारे की बात तभी हो सकती है जब राष्ट्र विद्यमान हो।[2] इससे भी बढकर डॉ0 अम्बेडकर ने यह बहस छेड़ी की जाति, भाषा और स्थान के बूते ही राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार राष्ट्र एक जीती जागती आत्मा है, एक आध्यात्मिक सिद्धान्त ..एक. भूत में है तथा दूसरा वर्तमान में। एक के पास खुसनुमा यादों की विरासत है तो दूसरे की मात्र सम्मति है। साथ–साथ रहने की इच्छा अविभाजित धरोहर, जिससे वंचित कर दिया गया, को सहेज कर रखने की इच्छा शक्ति व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी प्रयास, बलिदान और आस्था के लम्बे भूतकाल की तरह है, शौर्य से भरा भूत, महान व्यक्ति, गौरव ये सब सामाजिक पूंजी का निर्माण करते हैं और राष्ट्रीय विचार की अधार शिला बनते हैं।

---

1. विवेक कुमार, अम्बेडकर का राष्ट्रचिन्तन, दैनिक जागरण (कानपुर), 6 दिसम्बर, 2007 पृष्ठ 10
2. वही, पृष्ठ 10

डॉ० अम्बेडकर लोकतान्त्रिक भारत के साथ लोक तान्त्रिक समाज चाहते थे, जिसमें कि स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता, जीवन के अभिन्न अंग हों वे ऐसे राष्ट्र का निर्माण नहीं चाहते थे, जिसमें स्वतन्त्रता तो हो लेकिन आपसी भाईचारा, समता एवं बन्धुता न हो। महात्मा गांधी और देश के अन्य नेता, देश मे स्वतन्त्रता चाहते थे इसके अलावा कुछ नही, जिसकी कीमत हमको अपना देश बांट का चुकानी पड़ी। डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि समाजवाद में समता का उच्च स्थान होता है, तानाशाही में समता व बन्धुता उसके नीचे रहते है। पूंजीवाद में स्वतन्त्रता ऊपर समता नीचे रहती है। लोकतान्त्रिक समाज में राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक विषमता का अन्त होता है। इसका अन्त भी दलित व पिछडे समाज की अपने को छोटा समझने की भावना का अन्त होता है। यही कारण है कि डॉ० अम्बेडकर प्रजातन्त्र के साथ–साथ आर्थिक प्रजातन्त्र भी चाहते थे, जहां हर हाथ को अर्थ की प्राप्ति हो, और राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक बंधुत्वमय एकता भाव हो।

मुसलमानो को आखिरी बार समझाते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा था कि "वे पकिस्तान बनाने के बजाय 'संयुक्त राज्य अमेरिका' की भाँति 'संयुक्त भारत' नाम से सुलह समझौते का फार्मूला निकाल लें। दूसरी तरफ हिन्दुओ से अपील की कि यदि वे वर्णगत आधार का अन्त कर समाजिक समता के आधार पर संगठित हो जायें तो मुसलमान भी अखण्ड राष्ट्र के निर्माण में शरीक हो जायेंगे इससे भारत एक समृद्ध राष्ट्र बनेगा।"[1] उनका बेबाक विचार था कि सरकार के निर्माण के साथ ही समाज का निर्माण होना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होने कहा कि "कांग्रेस केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता की बात करती है जबकि मैं दो हजार वर्षो से मानवीय अधिकारों से वंचित दासता का जीवन जीने वाले दलितो की स्वतन्त्रता व उनके

---

1. जाटव, डी0आर0, पूर्वोक्त, पृष्ठ 98

मानवाधिकारों की बात करता हूँ। मैं सम्पूर्ण भारत में आहिंसात्मक व लोकतान्त्रिक आन्दोलन प्रारम्भ कर सही रुप में नया इंकलाब लांऊगा।"[1] भारत की स्वतन्त्रता के साथ यहां लोकतन्त्र की स्थापना एवं समाजवाद लाने के लिए उन्होने पूँजीवादी व जमींदारी प्रथा का विरोध किया। भूमि व उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर जोर इसलिए दिया कि पूंजीपति व जमींदार मजदूरों का शोषण न कर सके। डॉ० अम्बेडकर ने चन्द लोगो के कब्जे में कैद सत्ता, धन व सम्पत्ति पर बपौती रखने वालों से इन्हे छीनने का अभियान चलाया और कहा "जब तक राजनीतिक, समाजिक, व आर्थिक विषमता का अन्त नही कर लूंगा, चैन से नही बैठुगा लोकतन्त्र के स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि जाति विहीन व वर्ग विहीन समाज की स्थापना हो"[1] यह यथार्थ है कि विषमता विद्धेष की जननी है, विद्वेष, विध्वंस को जन्म देता है। ऐसे हालात में जहां विषमता पनपती हो राष्ट्र और राष्ट्रीयता के भाव का उदय सम्भव ही नही है। डॉ० अम्बेडकर ने भारतीय राष्ट्रवाद के उन्नयन के उद्‌देश्य से इस विषमता की प्रवृत्ति पर व्यापक प्रहार किया।

सजग राष्ट्रवादी- डा0 अम्बेडकर

डॉ० अम्बेडकर हर एक स्थित को अपने देश की जमीनी हकीकत से जोड़कर देखते और मुल्यांकन करते थे चाहे राजनीति का काम हों या समाज का डॉ० अम्बेडकर सदैव राष्ट्र परक रहे। उनका कोई भी कार्य कभी राष्ट्र हित के विरुद्ध नहीं रहा। उन्होने एक बार कहा था, "अपनी विचारधारा के प्रति मेरी निष्ठा अन्तर्निहित है। अपना यह देश प्रचुर सम्भावनाओ वाला देश है"[2] जिसमें हम एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकतें है। परन्तु देश के महान कट्‌टर नेता इस महान

---

1. वही, पृष्ठ 99
2. वही,

राष्ट्र के निर्माण में अपनी सौ फीसदी महती भूमिका का निर्वाह करें। आगे आपने कहा कि ''मैं गांधी और जिन्ना दोनो को ही नापसंद करता हूँ, किन्तु मै उनसे घृणा नही करता, क्योंकि भारत को मैं बहुत ज्यादा प्यार करता हूँ हर राष्ट्रवादी का यही सच्चा धर्म है। मैं आशा करता हूँ कि कोई दिन आयेगा कि जब मेरे मेरे देशवासी यह जानेगें कि देश लोगो से कही बड़ा होता है।[1] अपने देश की सविधान सभा में 25 नवम्बर 1949 में भाषण देते हुए उन्होने कहा था, ''धर्मो और जातियों के रुप मे हमारे पुराने शत्रु तो मौजूद थे ही अब उनके साथ जुड रहे है अनेक राजनीतिक दल जिनकी भिन्न–भिन्न विरोधी विचार धांराये होगी। क्या भारतीय अपने देश को विचार धारा से बड़ा मानेगे या विचारधारा को ऊपर तरजीह देंगें ? मुझे नहीं मालूम पर इतना तो पक्का है कि यदि राजनीतिक दलो ने अपनी विचार धारा को देश के ऊपर माना तो हमारी स्वतन्त्रता न केवल दुबारा खतरे मे पड जायेगी बल्कि शायद हमेशा के लिए खो जायेगी। हमें सतर्क रहना है ताकि ऐसा कभी न हो पाये। अपने रक्त की आखिरी बूंद तक हमें अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए।''[2]

अम्बेडकर के राष्ट्रवाद का आधार

1. जातिवाद का अन्त– 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' नामक अपनी पुस्तक में डॉ० बाबा साहब अम्बेडकर ने लिखा है, ''मैं निस्संशय यह कह सकता हूं कि समाज व्यवस्था को बदले बगैर प्रगति सम्भव नहीं है। इसे किये बगैर समाज रक्षा अथवा अभिक्रमण के लिये भी तैयार नहीं किया जा सकता। जाति प्रथा की नींव पर कुछ भी निर्माण नहीं हो सकता। न तो राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। और

---

1. उद्धृत वही, पृष्ठ– 24
2. उद्धृत वही,

न ही नैतिकता का। जाति प्रथा की नीव पर जो कुछ भी बनाया जायेगा। उसमें दरारें पड़ जायेंगी वह कभी भी पूरा नही हो पायेगा''।[3]

2. परम्परागत धार्मिक मूल्यों का परित्याग –

डॉ० अम्बेडकर का मत था कि परम्परागत धार्मिक मूल्यों का परित्याग किया जाये,और नये विचारों को अपनाया जाये। उन्होंने संविधान में उल्लिखित प्रावधानों में सभी के लिये सम्मान, एकता, स्वतन्त्रता, अधिकारों एवं नागरिक अधिकारों पर विशेष जोर दिया। डॉ० अम्बेडकर जीवन के हर क्षेत्र, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक में लोकतन्त्र के पक्षधर थे। उनके अनुसार सामजिक न्याय का अर्थ–ज्यादा से ज्यादा लोगो को अधिक से अधिक खुशिया मिलना था। उन्होने लोकतंन्त्र की अपनी अवधारणा में हर व्यक्ति की गरिमा को बहुत महत्व दिया हैं। हर एक व्यक्ति स्वयं में विलक्षण होता है।

3. सशक्त केन्द्रीय सरकार– डॉ० अम्बेडकर केन्द्र को और अधिक शक्तियां प्रदान कर देश की एकता एवं अखण्डता के हित में उसे मजबूत देखना चाहते थे। उन्होनें जोर देकर कहा कि भारतीय समाज न केवल जाति तथा वर्गों में बंटा हुआ है बल्कि इसमें क्षेत्रीय, भाषायी, परम्परागत, संस्कृति और विचारों की भी विभिन्नतायें है। इसलिये प्रादेशिक एकता और प्रशासनिक अनुशासन के लिये एक प्रबल केन्द्र अत्यन्त आवश्यक है।

---

1. उद्धृत बी0 आर0, अम्बेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, 1944, पृष्ठ–55

4. स्वतंत्रता और समानता के आदर्शों पर आधारित समाज– डॉ० अम्बेडकर का राष्ट्रवाद दलितों और निर्धनों तथा देश–प्रेम के उद्धार के साथ प्रारम्भ हुआ था। उन्होनें उन्हें समानता और नागरिक अधिकार दिलाने के लिये संघर्ष किया राष्ट्रीयता सम्बन्धी उनके विचार केवल गुलाम देशो की मुक्ति तक ही सीमिति नही है, वरन् वह प्रत्येक व्यक्ति की स्वंतन्त्रता चाहते है। उनके अनुसार समता के बिना स्वतंत्रता अधूरा लोकतंत्र है।[1]

डॉ० अम्बेडकर एक सच्चे देश भक्त एवं राष्ट्रवादी थे आप के दिमाग में हर वक्त भारत देश की उन्नति कैसे हो यही विचार कौंधते रहते थे लेकिन जाति प्रथा से परेशान रहते थे। उनके विचारों में नये भारत की कल्पना में भूत एवं वर्तमान का एक सुन्दर समन्वय मिलता है। उन्होंने भारत की बौद्व संस्कृति की धरोंहर को संभाला और संविधान की भूमिका में निहित मूल्यों की प्राप्ति पर बल दिया। आधुनिक प्रगति से लाभ उठाया जाना चाहिये जाना चाहिये। डॉ० साहब ने अतिवादी दृष्टिकोण को पंसन्द नहीं किया। अतीत में जो मूल्य हीन है उसे त्याग दिया जायें और जो आज प्रासंगिक है उसे ग्रहण किया जायें। वह चाहते थे कि जाति विहीन की स्थापना हो जिसमें कौमी एकता, राष्ट्रीय भावना, वैयक्तिक, स्वतन्त्रता, सामाजिक समता तथा धार्मिक सहिष्णुता जैसे आदर्शो का अनुसरण किया जाये। किसी के साथ छुआ छूत तथा ऊँच–नीच का व्यवहार न हो और सभी नागरिक निर्भय होकर शान्ति एवं सद्भावना पूर्ण जीवन यापन करें। 'बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय' के बौद्ध सिद्धान्त को वह व्यवहारिक बनाना चाहते थे। डॉ० अम्बेडकर की प्रत्येक रचना तथा भाषण में दीन हीन, दलित–पीड़ित, लोगों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की अभिव्यक्ति मिलती है। डॉ० अम्बेडकर ने अपने मानववादी दर्शन में न केवल भारतीय दर्शन,

---

1. नैमिशराय मोहनदास, अकेला ए0आर0, बाबा साहब के कहा था, –1990, पृष्ठ– 19

विशेषकर बौद्ध धर्म एवं चिंतन को अधार बनाया अपितु पाश्चात्य विचार धारा को भी ध्यान में रखा। वह धर्म तथा दर्शन के रहस्यवादी पक्षों से दूर रहे और विज्ञान तथा धर्म के उन्हीं पहलुओं पर–ध्यान केन्द्रित किया जिसमें मानव कल्याण सम्भव है।

5. लिंग भेंद का अन्त एवं नारी अधिकारों का समर्थन– डॉ० भीमराव अम्बेडकर हर हमेशा हर समय देश के दलित वर्ग एवं नारियों की परेशानियों के बारें में विचार किया करते थे। वे सारे विश्व नारियों से भारत की नारियों की तुलना करने की कोशिश भी किया करते थे। डॉ० साहब का विचार था कि भारत जैसे विशाल एवं विविधातापूर्ण देश में जहां अनेक धर्म भाषायें एवं परम्परायें हैं, जहां सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षणिक स्तर पर अनेक भेद एवं रुढ़िवादितायें भी है समाज में जिन वर्गो का सदियों से शोषण हुआ है, जिनके आस्तित्व को ही नकारात्मक दृष्टि से देखा गया, जिनको सदा दूसरे दर्जे का नागरिक माना गया। दुर्भाग्य से स्त्रियां भी उनमें से एक हैं। जिस दौर में संविधान की रचना हुई उसमें लिंग भेद वस्तुतः अन्याय माना ही नहीं जाता था। स्वंय स्त्रियां स्वीकार कर चुकी थी कि वें पुरुषों की तुलना में कमजोर, कम पढ़ी लिखी और कम बुद्धिमान हैं। डॉ० अम्बेडकर ने महिलाओं को समाज रचना की एक बड़ी ताकत के रुप में पहचाना। उन्होने न सिर्फ कोशिश की बल्कि उसमें सफल भी हुये। अततः संविधान में किसी भी लिंग भेद को तिलांजलि दे दी गयी। स्त्रियो को उनके जन्म के साथ समाज में सम्मान जनक दर्जा दिलाने हेतु डॉ० अम्बेडकर ने स्वतन्त्र भारत के प्रथम विधि मंत्री के रुप में प्रचुर प्रयास किये। उन्होंने हिन्दू कोड बिल पर संसद और समाज में अपने व्याख्यान और आग उगलते लेखो द्वारा अपना दृष्टिकोंण पूरी

तार्किकता के साथ रखा नारी उद्धार की बात लोगो के गले उतारने के लिये स्वय अपने जीवन में भी अनेक परेशानियों का सामना करते हुये चुनौतियों से निपटारा किया। संविधान के अनुच्छेद 14 से 16 उनकी दृढ़ इच्छा शक्ति के जीवन्त प्रमाण हैं।

डॉ0 अम्बेडकर हर समय देश की उन्नति का सपना देखते थे, परन्तु देश की उन्नति तभी हो सकती थी जब देश का नौजवान बेकार न हो सभी को रोजगार मुहैया हो, छुआछूत जैसी घृणित बीमारी न फैली हो तथा नारियो की सुरक्षा एवं संस्था के लिये देश का हर व्यक्ति हर वक्त हर जगह तैयार रहे।

नारी को माता का रूप बताते हुए डॉ0 अम्बेडकर ने कहा पुरुष के पढ़ने पर पुरुष शिक्षित होगा, परन्तु एक नारी के शिक्षित होने पर वह स्वयं एवं अपने आने वाले बच्चों एवं परिवार को भी शिक्षित करती है।[1] उन्होने कहा था कि "मैं किसी समाज की प्रगति का अनुमान इस बात से लगाता हूं कि इस समाज की महिलाओं की कितनी प्रगति हुई है।"[2] नारियों को समाज मे अपना विशेष योगदान देने के लिए अपना एक संगठन बनाने का भी आह्वान किया। समाज की राजनीति में अपनी सहभागिता के लिए भी डा0 अम्बेडकर ने महिलाओं से कहा "सामाजिक परेशानी एवं देवी आपदाओं से निपटनें के लिए हर वक्त तैयार रहें, अपना संगठन बनायें और अपने अधिकारों की रक्षा करें एकत्रित होकर देश की समस्याओं को सुलझानें में सहयोग दें। सामाजिक बुराइयों को दूर करने में स्त्रीवर्ग अधिक सहायता कर सकता है। किसी समाज की प्रगति स्त्री वर्ग की उन्नति से ही मापी जा सकती है।[3]

डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार देश की उन्नति एवं राष्ट्र की तरक्की के लिए

---

1. धनन्जय कीर, डा0 अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन–1962 पृष्ठ–350
2. वही, पृष्ठ–30
3. वही, पृष्ठ–66

महिलाओं का शिक्षित होना अति आवश्यक है। समाज के हर प्राणी को राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रगतिशील होना बहुत जरूरी है। समाज में अनेक ऐसे माता पिता है जो अपने बच्चों की परवरिश एवं पढ़ाई–लिखाई का जरा भी ख्याल नहीं रखते। डॉ० अम्बेडकर ने समाज में पनपी उन बुराइयों की ओर भी इशारा किया जिससे परिवारिक विघटन, बाल अपराध एवं अशिक्षा आदि पनपते है और उन्होंने कहा "माता–पिता का यह महान कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों को अपने से अधिक शिक्षित होने का अवसर दें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लड़की को जो विवाह करती है, अपने पति के साथ–साथ चलना चाहिए अपने को, अपने पति का मित्र तथा समान प्राणी समझना चाहिए, और अपने पति का कभी भी दास बनना स्वीकार नहीं करना चाहिए मुझे विश्वास है कि आप यदि इस सलाह को मानेंगी तो आप अपना आत्म सम्मान तथा गौरव बढ़ायेगी।[1]

इस प्रकार डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने समाज की सुरक्षा एवं संरक्षा को ध्यान में रखतें हुए राष्ट्र हित में सामाजिक महिलाओं के लिए विचार व्यक्त किये। डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने स्त्रियों पर घोर अत्याचार को होते हुए देखा था, जाति प्रथा पर हो रहे अत्याचार को तो वह स्वयं महसूस कर रहे थे। परन्तु महिलाओं पर हो रहे अत्याचार से वह व्याकुल हो जाते थे। वे उस धर्म ग्रंथ को अच्छा नहीं मानते थे जो महिलाओं को अपमानित करने की कोशिश करता हो। वे अपने हर भाषण में नारियों की मुक्ति के लिए आवाज उठाते ही रहे और हमेशा अत्याचार के खिलाफ आवाज बुलन्द करते रहे। एक बार भीमराव अम्बेडकर जी लुधियाना मे थे वही पर स्त्रियों को संदेश देते हुए कहा था प्राचीन काल से ही स्त्रियों पर घोर अत्याचार होते चले आ रहे है। भारत में आदर्श समाज कायम करने के लिए मैं पूरे जोर से

1. वही, पृष्ठ –68

लड़ाई लड़ रहा हूं। हिन्दू अभी तक शास्त्रों के कानून को खुदाओं और देवताओं का बनाया हुआ कानून मानते हैं। वेद और शास्त्रों के कानून को नष्ट करना होगा, पढ़ी लिखी औरतों को हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठना चाहिए, उन धर्म ग्रन्थो के विरोध, में आवाज बुलन्द करनी चाहिए जिसमें औरतों को जलील करने के आदेश दिये गये, संसार की कोई भी ताकत आपके अधिकारों को हड़प नहीं कर सकती। मैं चाहता हूं भारतीय नारी जागृति हो, और संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करे।[1]

निःसदेह उनका कथन आज भी उतना ही प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है और जितना तब था, क्योकि बाद में टुकड़ें करके और अनेक, परिवर्तनों के साथ जो हिन्दू कोड बिल पास हुआ वह अभी परम्परावाद, अन्धविश्वास, कानूनी अज्ञानता, परिवारिक दबावों आदि के कारण किताबों में ही बन्द पड़ा है। उसे क्रियान्वित करने के लिए और भारतीय नारी के जीवन में उत्कृष्ट परिवर्तन लानें के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। डॉ0 अम्बेडकर ने अपनी पत्नी श्रीमती सविता को 06.02.1948 को लिखे एक पत्र में कहा था कि मैं स्त्रियों की उन्नति एवं मुक्ति के लिए लड़ने वाला महान सेनानी रहा हूं और मैंने स्त्री के स्थान को बढ़ाने के लिए पर्याप्त संघर्ष भी किया है, जिसका मुझें गर्व है।[2] अपने उपर्युक्त आदर्शो से युक्त राष्ट्र के निर्माण की सम्भावना डॉ0 साहब को बौद्ध धर्म में दिखायी दी। तद्नुसार उन्होंने बौद्व धर्म अपनाया और उनके प्रचार हेतु कार्य किया।

---

1. जाटव, डी0 आर0, पूर्वोक्त, पृष्ठ–116–17
2. वही,

भारतीय स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रवाद– डॉ० अम्बेडकर के विचार

डॉ० भीमराव अम्बेडकर को अपना देश सबसे प्यारा था। जिस समय विश्वनाथ दास उत्तर प्रदेश के महामहित राज्यपाल थे उस समय उन्होंने कहा था "मैने एक ही व्यक्तित्व– डॉ० अम्बेडकर को देखा जिन्होंने देश हो अथवा विदेश कही भी अपने राष्ट्र के विरूद्ध एक भी शब्द सहन नहीं किया, यदि कहीं किसी ने कोई ऐसा शब्द कहा तो उन्होंने तुरन्त उसका मुंह तोड़ जवाब दिया।[1] राष्ट्र के प्रति जुझारू सैनिक की भांति वो वह अपने काम के प्रति दृढ़ संकल्प रहने वाले डॉ० अम्बेडकर ने कभी भी अपने राष्ट्रकी बुराई नहीं सुनी, और हर समय वो स्वतन्त्रता के बारे में विचारमग्न रहते थे।

डॉ० अम्बेडकर अपने विद्यार्थी जीवन काल से ही लोकतन्त्र प्रणाली के समर्थक रहे। स्वतन्त्रता संघर्ष की दौड़ में दलित कभी पीछे न रहें इसलिए डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों को बराबरी पर लाने का संघर्ष छेड़ा, और देश की आजादी के लिए नौजवानों में नया जोश भरने की मुहिम की शुरूआत की।

डॉ० अम्बेडकर ने भारत की स्वतंत्रता के साथ–साथ लोगों की स्वतंत्रता की वकालत करते हुए 1930 में गोलमेज सम्मेलन के दौरान लन्दन के गोलमेज परिषद में अंग्रेजों को स्पष्ट रूप से बताया कि आपके शासन में कितनी विसंगतियां हैं, उनसे जल्द से जल्द छुटकारा एवं स्वतंत्रता चाहिए। डॉ० अम्बेडकर ने कहा "भारत को विदेशी शासन की मुक्ति के साथ–साथ गुलामों के गुलामी की स्वतन्त्रता चाहिए। हर नागरिक को समान वोट के अधिकार के अलावा हर 18 वर्ष के बालिग

1. वही, पृष्ठ–114

को बालिग मताधिकार चाहिए। सिक्खों, मुसलमानों, क्रिश्चियनों के आरक्षण की भांति ही दलितों को भी आरक्षण चाहिए। दलितों को अपना प्रतिनिधित्व चुनने के लिए प्रथम निर्वाचन चाहिए। आई.सी.एस. के स्थान पर सेवाओं का भारतीयकरण चाहिए। ब्रिट्रिश नौकरशाही की कटु आलोचना करते हुए कहा कि जब हम अपनी वर्तमान स्थिति की तुलना बिट्रिश राज्य के पूर्व वाले भारतीय समाज से करते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि हम प्रगति के बजाय केवल समय व्यतीत कर रहे है। ब्रिट्रिश शासन ने अपनी प्रतिनिधि सरकार के अधिकारों को बढ़ाने के लिए जब–जब कदम उठाया है, दलितों को सदा ही उससे वंचित रखा गया है। ब्रिट्रिश राज्य के पूर्व भी छुआछूत के कारण हम बहुत ही सोचनीय अवस्था में थें। क्या ब्रिट्रिश राज्य ने इसे मिटाने के लिए कुछ किया है? ब्रिट्रिश सरकार के पूर्व हम मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे, क्या अब हम प्रवेश कर सकते है?'' ब्रिट्रिश शासन से पूर्व हमें पुलिस और फौज में भरती नही किया जाता था क्या अब पुलिस व फौज में हमारे लिए भर्ती के द्वार खोल दिये गये हैं? भारत में दलित वर्ग को बल पूर्वक नीच बनाकर समस्त मानवीय व्यवहारों व अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। इनकी आबादी समूचे इंग्लैण्ड अथवा समूचे फ्रांस की आबादी के बराबर है इसलिए भारत की स्वतन्त्रता पर विचार के साथ ही अछूतों की समस्या पर भी विचार होना चाहिए। भारत में आज जो नौकरशाही की सरकार है, उसे स्थान पर वहां एक ऐसी सरकार की स्थापना होनी चाहिए जो कि जनता की, जनता के द्वारा स्थापित जनता के हित के लिए हो। अछूत समाज भी मौजूदा राज्य के स्थान पर जनता की भलाई के लिए जनता द्वारा संचालित जनता का राज्य चाहता है। वह जमाना बीत गया जब आप फैसला करते थे, भारत उसे मानता था, वह जमाना अब कभी नहीं आयेगा''[1]

---

1. जाटव डी0आर0, राष्ट्रीय आन्दोलन में डॉ0 अम्बेडकर की भूमिका, जयपुर, 1993, पृ0 60–61

डॉ0 अम्बेडकर का मानना था कि विदेशी तत्वों को निष्कासित कर आर्थिक परिवर्तनों को वरीयता दी जाये तो सशक्त प्रशासन आसानी से दूरगामी समाज सुधार ला सकता है इस प्रकार 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की भूमिका डॉ० साहब ने 1930–31 में ही तैयार कर ली थी।[1] गोलमेज परिषद में अंग्रेजों के रुख को देखते हुए उन्होंने चाहा था कि भारत का संविधान तैयार कर यहीं पर बिट्रिश प्रधानमंत्री को दे दिया जाय। किन्तु डॉ० अम्बेडकर का यह सुझाव नहीं माना गया।

भारत छोड़ो आन्दोलन के चलते डॉ० अम्बेडकर ने गोलमेज परिषद लन्दन में दिये गये भाषण के अनुसार अपने देश की स्वतंत्रता का संग्राम जारी रखा। फरवरी, 1942 में 'बैंगल हाल' बम्बई में भाषण देते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि "यदि पाकिस्तान बनता है तो भारत की खैर नही।[2] मुसलमान अपने साम्राज्य को भारत की सीमाओं में विस्तृत करने का प्रयास करेंगे। यह सही है कि सर्वण हिन्दुओं से कतिपय बिन्दुओं पर मेरा मत–भेद है, किन्तु मै शपथ पूर्वक कहता हूं कि जहां भारत की रक्षा का प्रश्न उठेगा मैं अपने जीवन का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हूं।[3] कांग्रेस व महात्मा गांधी ने जब डॉ० अम्बेडकर के सुझाव के अनुसार, स्वतन्त्र भारत की शक्ल व उसके संविधान का मसविदा स्वीकार नहीं किया, तों उन्होने मुस्लिम नेता जिन्ना से वार्ता की, उन्हे सुझाव देते हुए कहा कि यदि वह कांग्रेस को ब्राह्मण–बनियों की पार्टी मानकर उससे नाराज हैं तो मुसलमान, अछूत, पिछड़ा वर्ग, मिलकर एक संगठित शक्ति से कांग्रेस का मुकाबला करे। लेकिन जिन्ना को हिन्दूवाद से इतनी घृणा थी कि उन्हे पाकिस्तान के सिवाय कुछ और दिखाई नही देता था, "पाकिस्तान बनने की सच्चाई जानते हुए कि वह स्वीकार हो चुका है, उन्होने अपना एक सुझाव दिया कि पाकिस्तान बनाये जाने का समर्थन इस शर्त के साथ स्वीकार किया जाये

---

1. डी0 आर जाटव, डॉ0 अम्बेडकर एक प्रखर विद्रोही पृ0 96
2. वही,
3. वही,

कि पाकिस्तान के सभी हिन्दू हिन्दुस्तान चले आयें और हिन्दुस्तान के सभी मुसलमान, पाकिस्तान चले जायें। आबादी का यह विनिमय दोनो देशों के लिए सुखद होगा।[1] कांग्रेस व गांधी ने जब डॉ० अम्बेडकर की कोई बात नहीं मानी तो उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि "कांग्रेस देश के लिए नहीं बल्कि सत्ता हथियाने के लिए सत्याग्रह कर रही है। यदि ऐसा ही करना था तो 'डिफेन्स ऑफ इडिया एक्ट' जब पास हुआ था तभी गांधी जी ने सत्याग्रह क्यों नहीं किया?[2]

डॉ० अम्बेडकर भारत राष्ट्र एवं भारत के नागरिकों को बहुत चाहते थे। उन्होंने कभी भी अपने देश को विश्व के किसी भी कोने में नीचा होते हुए नही देखा, अगर कहीं पर भारत राष्ट्र को या भारतीय लोगों के खिलाफ कुछ कहा है तो उसका जवाब उनकी ही भाषा में आपने तुरन्त दिया है। वो भारत राष्ट्र को अपनी भारत माता का दर्जा देते थे। बात दलितों की आती थी तो दलितों के उतने ही हमदर्द थे, जितने भारत के लिए। कभी भी उनके मन से अछूतों का अपमान नही भूला, वो सभी अछूतों की भलाई के लिए पुरजोर समर्थन करते थे। 3 फरवरी 1946 को डॉ0 अम्बेडकर ने दिल्ली के गांधी मैदान में भाषण देते हुए कहा था कि "मैं गत पच्चीस वर्षो से अपने अछूत भाइयों की सेवा कर रहा हूं अभी हमारा संघर्ष समाप्त नहीं हुआ है, यह तब तक जारी रहेगा जब तक की मेरी जनता सभी दृष्टिकोंणों से उन्नति करने के लिए सारे साधन और भारतीय शासन में सम्मानपूर्ण स्थान नहीं पा लेती। भारत थोड़े ही समय में आजाद होगा जहां तक देश की स्वतन्त्रता का सवाल है। मैं अपने संघर्ष के प्रारम्भिक दिनों से ही विदेशी शासन के विरूद्ध बोलता रहा हूं। हम स्वतन्त्र भारत में पारिवारिक सम्बन्धों से अपने दुःखों को दूर करेंगे। लेकिन इसके लिए मैं ब्रिटिश सरकार व कांग्रेस के कर्णधारों से अपने लोगों के सम्बन्ध में

---

1. वही
2. वही

आश्वासन चाहता हूं और जानना चाहता हूं कि स्वतन्त्र भारत में हमारा कौन सा स्थान होगा? पिछला इतिहास बताता है कि चाहे वह मुगल शासन हो या ब्रिटिश शासन अथवा इसके पहले का हिन्दू शासन हो सभी ने हमारे साथ धोखा किया है। यही कारण है कि हम मानव दौड़ में पिछड़ गये''।[1]

यह उस समय की बात है जब विद्यार्थी के रूप में डॉ० अम्बेडकर अमरीका के कोलम्बिया विश्व विद्यालय में विद्या अध्ययन कर रहे थे। तब उन्होने वहां देखा कि काले लोगों के स्वतंत्रता संग्राम में कुछ गोरे लोग भी उनका साथ दे रहे थे। ऐसा देखकर मन में भाव जगा कि यदि भारत के दलित अपनी स्वतंत्रता के लिए उठ खड़े हों तो कुछ न कुछ सवर्ण उनका साथ अवश्य देगे। विद्यार्थी अम्बेडकर की देशभक्ति व स्वतंत्रता आन्दोलन की साक्ष्य उनकी थीसिस 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रशासन एवं वित्त' थी जो कि 24 वर्ष की आयु में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में एम.ए. के विद्यार्थी की हैसियत से 1915 में प्रस्तुत की जो चौंका देने वाले तथ्यों से परिपूर्ण थी। उन्होने रहस्योद्घाटन किया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर युद्धों के कारण लगभग सात करोड़ पौण्ड तथा स्वतन्त्रता संग्राम को दबाने के लिए 4 करोड़ पौण्ड का कर्ज भारत की गरीब जनता पर मढ़ दिया गया, जबकि इसे बिट्रिश सरकार को वहन करना चाहिए था।[2]

अर्थशास्त्र के ज्ञाता डॉ० अम्बेडकर

डॉ० अम्बेडकर ने भारतीय मुद्रा के बारे मे भी अपने विचार प्रस्तुत किये है। आपने एम. ए. करने के बाद 1924 में ब्रिटिश भारत में, 'प्रान्तीय वित्त का इतिहास' नामक शोध ग्रन्थ पर पी.–एच.डी की डिग्री हासिल की उन्होने इस ग्रन्थ में ब्रिटिश

---

1. वही, पृष्ठ–99
2. वही

नौकरशही की प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर भण्डाफोड करते हुए सम्राज्यवादी इरादों की निन्दा की। इसके बाद आपने डी.एस.सी. किया जिसका विषय था "प्राब्लम ऑफ द रुपी" (रुपये की समस्या) उनका मत था कि भारतीय रुपये का आधार सोना होना चाहिए न कि चाँदी। वह गोल्ड रिजर्व फण्ड के विरोधी थे, वह रुपये के मूल्य को उसकी आन्तरिक क्रय क्षमता से जोड़ने तथा उसके नियन्त्रित प्रचलन के पक्षधर थे। उनका सुझाव था कि रुपये का मूल्य सोने के रुप में रखा जाये तथा कागज के नोट चलाए जायें।

भारत विभाजन का विरोध

डॉ० अम्बेडकर जी ने भारत विभाजन का पुरजोर विरोध किया। स्वतन्त्रता संग्राम में सत्याग्रही नेताओ को कालापानी भेजने की सजा को गलत बताया। डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि स्वन्तत्रता के लिए किया गया विद्रोह जुर्म नहीं है, इसमें किसी प्रकार का अपराध नहीं होता। जो व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है, वह विद्रोह तो करेगा ही! डॉ० अम्बेडकर ने स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रह आन्दोलन को उचित ठहराते हुए इसे अपराध मानने से इंकार कर दिया तथा काला पानी भेंजने के सुझाव का कड़ा विरोध करते हुए प्रमुख नेताओं को इस सजा से बचाने का भरपूर प्रयास किया। मि. जिन्ना सरकार में मुसलमानों की पचास प्रतिशत हिस्सेदारी की मांग कर रहे थें, जो राष्ट्र हित में नहीं था, जिसका डॉ० अम्बेडकर ने कड़ा विरोध किया। कांग्रेस ने जल्द बाजी में भारत विभाजन को उचित प्राप्ति समझा पर अम्बेडकर ने विभाजन का विरोध किया। डॉ० साहब ने दलितो को हमेशा बढ़ने, शिक्षित होने और अपने सम्मान को ऊँचा करने के लिए, हक के लिए एक जुट

होकर संघर्ष करने को कहा करते थे, परन्तु राष्ट्र विरोधी आचरण से नफरत करते थे। भारत राष्ट्र के दलित परिवार जो अपना खून–पसीना एक करके दो वक्त की रोटी बमुश्किल इकट्ठा कर पाते थे जिनकी ओर सरकार का ध्यान कभी कभार ही जाता होगा उनको ध्यान में रखते हुए डॉ० अम्बेडकर ने कहा "जो सरकार दलितों, गरीबों, भूखों का ध्यान नही देती उनको सत्ता शासन में रहने का कोई अधिकार नही है"।[1] अपने बारे में भी कहा था कि "यदि वह वाइसराय की एक्जीक्यूटिव में रहकर दलितों का भला न कर सके तो त्याग पत्र दे देगें।[2]

डॉ० अम्बेडकर राष्ट्रवाद एवं देश भक्ति की भावना से ओत–प्रोत एक महान व्यक्ति थे, उनकी देश भक्ति की मिसाल इससे पता चलता है, कि एक बार पूर्व प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु ने कहा था कि डॉ० अम्बेडकर का नाम भारत की स्वतन्त्रता और उनके संविधान के साथ इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता है।[3] भारतीय समाज में प्रचलित अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले राष्ट्रवादी विद्रोही थे। उनका विद्रोह प्रभावशाली और युग परिवर्तन करने वाला था । महात्मा गांधी को भी कहना पड़ा कि अम्बेडकर में त्याग शक्ति है. कुर्बानी करने की क्षमता हैं। डॉ० भीमराव अम्बेडकर अपने स्वाभाव के अनुकूल सभी से वैसा ही व्यवहार चाहते थे जैसा वो खुद दूसरों से करते थे, परन्तु अछूत होने मे कारण आपको कई प्रकार से अपमान सहना पड़ता था, कभी स्कूल मे सभी से अलग बैंठने का अपमान, कभी बैलगाड़ी मे बैठ जाने पर मार एव गाली सुनने का अपमान, तो कभी सवर्णो के घर के बाहर खड़े होने का अपमान! इसी तरह और भी प्रकार से कई प्रकार से आपको लज्जित होना पड़ता था। बात उस समय की है, जब महाड के चाउदार तालाब से पानी के लिये आपने सत्याग्रह

1. नैमिशराय, मोहनदास, पूर्वोक्त पृ0 88
2. जाटव, डी0 आर0 पूर्वोक्त, पृ0 100
3. वही, पृ0 103

किया तो जो लोग इनको कायर जैसे नाम से कभी–कभार पुकारते थे, उनको सदेंश देते हुये कहा था "मै कायर नहीं हूँ, मैं एक बहादुर सैनिक पिता का बेटा हूँ। चाहे जो हो जाये मौत के भय से अपने स्थान से नही हट सकता। ये शब्द अम्बेडकर ने महाड के चाउदार तालाब से पानी पीने के सत्याग्रह के उस अवसर पर कहे थे जब तथाकथित अभिमानी उच्चवणी लोगों ने दलितों पर अस्त्र–शस्त्रो से घातक प्रहार किया था। सत्याग्रह का कारण, महाड़ के इस मीठे पानी के सरोवर से दूसरों की भांति अछूतो को भी पानी मिले, इसका अहिंसात्मक प्रयास था !इस कांतिकारी घटना के बाद डॉ० साहब के प्रयास से यह तलाब अछूतों के लिये भी खुल गया। डॉ० अम्बेडकर भारत के दलित अछूतों और शोषित पीड़ित लोगो को अन्य लोगो के समान स्तर पर लाकर देश को विश्व मे एक सुदृढ़ राष्ट्र बनाना चाहते थे उनकी दृष्टि मे सामाजिक विषमता और भेद–भाव देश की शक्ति को खोखला करने वाले तत्व है! इस लिये उन्हे दूर कर समता, स्वतन्त्रता और भ्रातत्व पर आधारित समाज स्थापित होना आवश्यक है। वह कहते थे 'मेरा समाज दर्शन तीन शब्दों मे निहित है। समता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व। लेकिन किसी को यह नही समझना चाहिए कि मैनें इन शब्दों को फ्रांस की क्रान्ति से लिया है। मैने ऐसा नहीं किया। मेरे दर्शन की जड़े धर्म में है न कि राजनीति विज्ञान मे, मैने उन्हे अपने गुरू बुद्ध से सीखा है।[1]

ब्राह्मणवादी तथा विषमतावादी नीति और दलित उत्पीड़न तथा उनकी स्थिति का स्पष्ट चित्रण करते हुये डॉ० अम्बेडकर ने अपने ग्रंथ 'मि. गांधी और अछूतोंद्वार' में कहा है, " देशभक्त बनने के लिए आवश्यक है कि आदमी किसी देश को 'अपना देश' कह सके। जिस देश के सार्वजनिक स्थानो से मुझे पानी तक नहीं पीने दिया जाता, उस देश को मैं 'अपना देश' कैसे कह सकता हूं। तो भी मैं उस

---

1. कीर, धनन्जय, (उद्धृत) पूर्वोक्त, पृष्ठ 456

देश को मैं अपना देश कहता हूँ। एवं देश के हित के विरूद्ध कोई भी काम न करके अछूतो के हित में जो कुछ भी मुझसे हो सकेगा, वह सभी कुछ मैं करूंगा।[1] इन सब कथनो से स्पष्ट होता है, कि डॉ० अम्बेडकर को अपना देश सबसे ज्यादा प्यारा था। इस बात से और स्पष्ट होता है कि देश के सभी महान लोगो के हृदय में निवास करते थे और आज भी करते हैं। डॉ० भीमराव जी जिस समय नासिक सत्याग्रह के बाद येवला में उन्होंने हिन्दू धर्म को त्यागने की घोषणा की उस समय इसाई, इस्लाम और सिक्ख तीनों ने अपने–अपने धर्म में लाने का पूर्ण प्रयास किया। कुछ ने तो प्रति व्यक्ति कुछ रुपये देने का लालच भी दिया। वह देशभक्ति की परीक्षा का अवसर था लेकिन डॉ० अम्बेडकर भ्रमित नहीं हुए और उन्होंने एक ऐसे धर्म का अवलम्बन किया जिसमें सबके लिए समान अवसर हों और सबका सम्मान सुरक्षित रहे। बौद्ध धर्म को उन्होंने समग्र समानता के आदर्श और राष्ट्रवाद के आधार के रूप में स्वीकार किया।

****

1. जाटव, डी०आर०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 104–05

अध्याय – 6

डॉ. अम्बेडकर और धर्म परिवर्तन

- धर्म की समीक्षा
- डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म ही क्यों ग्रहण किया ?
- बुद्ध के विचारों की ओर झुकाव
- द्विराष्ट्रवाद की भावना के मूल

डॉ0 अम्बेडकर और धर्म परिवर्तन

प्राचीन भारत में व्यक्ति की आत्मा के गुणों के आधार पर उसके कर्मों का निर्धारण करते हुए समाज के चार वर्णों का निर्धारण किया गया था। प्रारम्भ में यह व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर ही आधारित रही किन्तु शनैः–शनैः इसने जन्म आधारित जाति व्यवस्था का रूप धारण कर लिया जिसमें सामाजिक स्तरीकरण का भाव प्रबल था। इस व्यवस्था ने समाज में ऊँच–नीच का भेद उत्पन्न कर सामाजिक अन्तर व सामाजिक विद्वेष उत्पन्न करने का कार्य किया। जाति प्रथा की इस व्यवस्था में भारत में एक ऐसे समाज का विकास हुआ जिसमें अधिकांश सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक संसाधन कुछ वर्ग विशेष तक ही सिमट कर रह गये। शेष जन समुदाय जिसे आज दलित आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है, वंचित और उपेक्षित जीवन जीने को विवश था। इस स्थिति में भारत में एक ऐसे समाज का विकास हुआ जिसे विकलांग समाज कहा जा सकता है, जहाँ समाज के कुछ अंग तो अत्यधिक विकसित थे तो कुछ विकास के प्रकाश के दर्शन मात्र से भी वंचित थे। इतना ही नहीं समाज के इस वंचित वर्ग की स्थिति अस्पृश्यता के चलते पशुओ से भी बद्तर बना दी गई थी। सामाजिक जीवन में इन पर इतने प्रतिबंध थे कि इनके लिए समाज में रहते हुए सामान्य जीवन जीना सरल न था। यद्यपि हिन्दू समाज की इस विकृति के विरूद्ध अनेक समाज सुधारकों ने बिगुल बजाया किन्तु वे उन्हे उनका अपेक्षित हक दिलाने में सफल न हुए। डॉ० अम्बेडकर ने अन्ततः इस सन्दर्भ में इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि हिन्दू धर्म में रहते हुए दलित वर्ग अपना समुचित सम्मान व अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। इस दिशा में बौद्धधर्म में उन्हे अपार

सम्भावनायें दिखायी दी।

धर्म की समीक्षा

निःसंदेह भारत में हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म की कठोर और यथार्थ आलोचना डॉ० अम्बेडकर के पहले शायद ही किसी ने की है। और जिन कुछ लोगों ने आलोचना की है वे भी अंत में हिन्दू समाज के सुधारवादी आन्दोलन के अंग बन गये हैं। हिन्दू समाज के मूल पर प्रहार करने की बात डॉ० अम्बेडकर के पहले शायद ही किसी ने सोची होगी। उन्होंने अपने चिन्तन, और आंदोलन का प्रारम्भ ही हिन्दू समाज, व्यवस्था और इसमें हिन्दू धर्म की भूमिका की समीक्षा, उसकी आलोचना करने से ही प्रारम्भ किया है। यह बात उनके समकालीन अन्य राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, राजनीतिक नेताओं में नहीं दिखाई देती डॉ० राममानोहर लोहिया, जात–पांत तथा अछूतपन और ब्राह्मण–पुरोहित वर्ण वर्चस्व के विरोधी थे, वे इस सामाजिक असमानता को समाप्त करना चाहते थे। वे स्वीकार करते थे कि जात–पांत को हिन्दू धर्म का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। किन्तु उन्हाने हिन्दू धमशास्त्रो की समीक्षा और आलोचना करने की बात भी कभी सोची नहीं । महात्मा गांधी जैसे राजनीतिक नेता तो घोषित रूप से अपने आपको कट्टर सनातनी हिन्दू मानते थे। इसलिए उन्होंने इस दिशा में कभी कोई प्रयास ही नहीं किया।[1]

विश्व के चिन्तन जगत में यदि आज सबसे विवादित विषय कोई है तों वह धर्म है। धर्म संकल्पना के विरोध और समर्थन में बहुत कुछ लिखा और बोला जा रहा है धर्म समर्थन और धर्म विरोध इस तरह के दो प्रवाह हैं और इसमें तीसरा समन्वयवादी प्रवाह भी है। हर विचारधारा अपनी–अपनी दलीलें, समर्थन और

---

1. विमल कीर्ति, डॉ0 एल0 जी0, मेश्राम उद्धृत बौद्धमत डॉ0 अम्बेडकर और सामाजिक लोकतन्त्र, संगीता प्रकाशन, दिल्ली 1996 पृ0 55

विरोध में दे रही हैं। कार्ल मार्क्स ने धर्म संकल्पना, धर्म के सार तत्व, उसकी उत्पत्ति तथा वर्ग समाज में उसकी भूमिका के संबंध में गंभीर अध्ययन किया है और उन्होंने इस संबंध में अपनें विचारों को प्रतिपादन किया है। हर चिन्तक के चिन्तन का आधार मुख्यतः समकालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थितियां होती हैं। कार्ल मार्क्स के सामने चर्च, इसाई, पुरोहित वर्ग, यूरोप की राजनीतिक स्थिति, औद्योगिक क्रान्ति के कारण समाज में जो नये वर्ग संबंध स्थापित हो रहे थे, यह सब था। मार्क्स कामगार वर्ग का हिमायती था, उनका दार्शनिक चिन्तक था। कामगार वर्ग के पक्ष में समाज व्यवस्था में क्रांन्तिकारी परिवर्तन के संबंध में उसका सारा चिंतन था। मार्क्स ने ईसाई धर्म की सूक्ष्मताओं का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था। वैज्ञानिक खोजों के विरोध में ईसाइयों की नीति की उन्होने कठोर आलोचना की।[1] क्योकि पादरियों के वर्ग को बौद्धिक शिक्षा की इजारेदारी प्राप्त हो गयी थी, और शिक्षा स्वयं मूलतः धार्मिक शिक्षा बन गई थी। पादरियों के हाथ में, अन्य तमाम विज्ञानों की तरह, राजनीति तथा विधि–शास्त्र भी धर्म–दर्शन की ही मात्र शाखाएं बनकर रह गये थे। उन पर भी धर्म–दर्शन के प्रचलित सिद्धातों के आधार पर ही अमल किया जाता रहा। गिरजे (ईसाई धर्म–संघ) के अंधमतों को राजनीति के भी स्वयं–सिद्ध सत्यों के रूप में माना जाता था और अदालतों में बाइबिल (इंजील) के उदाहरणों का वही मान था जो कानून का था। ईसाई धर्म का यह सारा स्वरूप आम आदमी के विरोध में था और इसलिए मार्क्स को सम्पूर्ण धर्म संकल्पना को ही नकारना पड़ा।[2]

यूरोप में ईसाई के जिस स्वरूप को मार्क्स ने देखा था डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म या ब्राह्मण धर्म के उसी तरह के स्वरूप से स्वयं ही कुछ भोगा भी था, अनुभव

---

1. वही, पृ०– 56

2. वही,

भी किया था। इसीलिए उन्हें इस समाज व्यवस्था में क्रांन्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई। उन्होने अपने चिन्तन और आन्दोलन का प्रारम्भ हिन्दू अर्थात हिन्दू ब्राह्मण धर्म की समीक्षा, उसकी अलोचना करने से किया है।

धर्म की संकल्पना के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। धर्म क्या है इस पर भी विद्वानों में एकमत नहीं है। लेकिन अधिकांश विद्वानों यह मानते हैं कि समाज से संबंधित जितनी भी चीजे है उन सभी की आलोचना होनी चाहिए। लेकिन महात्मा गांधी धर्म की अलोचना को परे की चीज मानते हैं। वे किसी भी रूप में धर्म, धर्म ग्रंथो की अलोचना पसंद नहीं करते। उनके लिए वेदादि, भगवत गीता, रामायण आदि धर्म साहित्य अपौरूषेय है। इसलिए मानवी अलोचना से परे की चीजें हैं। डॉ० अम्बेडकर समाज से संबंधित हर बात की अलोचना करते हैं। धर्म भी उनकी इस अलोचना से परे की चीज नहीं है। उन्हें धर्म ग्रंथो की अपौरूषेयता, पवित्रता, धर्म प्रमाण, धर्म ग्रंथ प्रमाण, शब्द प्रमाण इस तरह की कोई बात मंजूर नहीं है।[1] डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म का, उसकी सूक्ष्मताओं का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था। वे कहते हैं कि ('हिन्दू समाज में जिन्हें ऊँचा दर्जा प्राप्त हुआ है उन स्वार्थी हिन्दुओं ने जाति संस्था को मूर्तरूप दिया है। हिन्दू समाज नाम की कोई चीज कहीं आस्तित्व में नहीं। वह केवल जातियों का समुदाय है। हर जाति अपने ही आस्तित्व की बात सोच सकती है। उनकी एकता की चेतना अपनी ही जाति तक है। हिन्दू साहित्य जाति संख्या से भरा पड़ा है उसमें जाति की उत्पत्ति श्रेष्ठ और अन्य जातियों की उत्पत्ति बहुत ही हीन दर्जे की दिखायी गई है। जाति हिन्दुओं की अनमोल दौलत और उसकी रक्षा के लिए यह हर तरह की कीमत चुकाने के लिए तैयार रहतें है।[2] अब हिन्दू धर्म की प्रचार क्षमता समाप्त हो चुकी है इस लिए एक

---

1 कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स (उद्धृत), धर्म, इण्डिया पब्लिशर्स– 1965 पृ0 7

2 विमल कीर्ति डा0 एल0जी0 मेश्राम, पूर्वोक्त, पृ0 57

हिन्दू दूसरे को भाई मानने के लिए तैयार नहीं है। हिन्दू और उनके देवताओं में भी सहिष्णुता नाम की कोई चीज शेष नही रही और यदि होती तो हिन्दुओं में अछूतों की यह स्थिति नही होती जाति संख्या का परिणाम हिन्दुओं की नैतिकता पर बहुत बुरा हुआ है। जाति संस्था ने उनका सार्वजनिक दृष्टिकोण खत्म कर दिया है। वे केवल अपनी जाति के लिए ही जिम्मेदार होते हैं। हिन्दुओं की तरह अहिन्दुओं में भी जाति है, फिर भी हिन्दुओं की जाति की तरह अहिन्दुओं की जाति का सामाजिक अर्थ नही है। अहिन्दुओं की जाति को धार्मिक मान्यता या आधार प्राप्त नहीं हैं। किन्तु हिन्दुओं की जाति संस्था को हिन्दू धर्म की मान्यता प्राप्त है। हिन्दू एक पवित्र कर्तव्य के रूप में हिन्दुओं को जाति में भेद मानने की शिक्षा देता है।[1] इस तरह हिन्दू समाज पर हिन्दू धर्म का पूरा नियंत्रण है।

हिन्दू समाज में जात–पांत का पालन हिन्दू लोग यूं हीं नही करते बल्कि जाति को धार्मिक अधिष्ठान प्राप्त है इसीलिए वे जाति–पांत को मानते हैं। जाति–पाति को मानना शास्त्र सम्मत है। उनका धर्म शास्त्र उन्हें इस तरह से करने की आज्ञा देता है। उनके धर्म शास्त्र पवित्र और अपौरूषेय हैं। और इसलिए धर्मशास्त्र सम्मत विरोधी आचरण करना पाप है। इसी कारण हिन्दू लोग जात–पांत को मानते हैं।[2] इस तरह से हिन्दू धर्म और समाज व्यवस्था में संबंध है। इसलिए डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म तथा समाज व्यवस्था के संबंधो का अध्ययन कर कहा कि, "हिन्दू समाज की रचना पवित्र होने का दावा हिन्दू लोग करते है। जाति को उनकी देवी देवताओं का आधार प्राप्त है, इसलिए जिनके आधार पर जाति पवित्रता को प्राप्त हुई है उन देवताओं का और उन पवित्रता की संकल्पना को ही समूल समाप्त कर देना होगा।"[3] हिन्दू धर्मशास्त्रों ने उन्हे स्वतंत्र रूप से सोचने का अधिकार ही नही दिया है। इतना

---

1. वही, पृ०– 57
2. वही,
3. वही,

ही नहीं तो जात और वर्ण की बुनियाद पर विवेक द्वारा सोचने के लिए उन्हे कोई अधिकार ही नहीं दिया है। इसलिए डॉ0 अम्बेडकर कहते है कि "जाति प्रणाली में सुधार करना हो तो वेद और शास्त्रों के विरूद्ध बगावत करनी होगी। क्योंकि किसी भी प्रकार के बुद्धिवाद का या नीतिशास्त्रीय तर्क का उन पर कुछ भी परिणाम होने वाला नहीं। श्रुति और स्मषति द्वारा कहे गए धर्म का तुम्हे विनाश करना होगा।"[1] हिन्दू धर्म की इतनी जबर्दस्त आलोचना उनके पहले शायद ही किसी ने की होगी।

डॉ0 अम्बेडकर मानवी जीवन में कार्ल मार्क्स की तरह धर्म की भूमिका को एकदम नकारते नहीं, या अस्वीकार नहीं करते। उसी प्रकार वे महात्मा गांधी की तरह धर्म, धर्मशास्त्र, समाज संस्था, धर्म साहित्य, पौराणिकता आदि को पवित्र व अपौरुषेय नहीं मानते। या जिनकी चर्चा, अलोचना, समीक्षा मनुष्य द्वारा की ही नहीं जा सकती ऐसी चीज नहीं मानते वे धर्म की समीक्षा या आलोचना करना किसी साम्यवादी या समाजवादी की तरह टालते नहीं। धर्म संकल्पना के सबंध में उनकी अपनी मान्यताएं है। वे धर्म संकल्पना को पूरी तरह नकारते नहीं लेकिन प्रचलित धर्म की सभी धारणाओं का जैसे–पुरोहित, धर्मग्रंथ प्रमाण, शब्द प्रमाण, ईश्वरवाद, आत्मावाद, कर्म विपाक, पूर्वजन्म, धर्म और अधर्म द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों को अपौरूषेय या अलोचना के परे की चीज नहीं मानते। उन्हें इस तरह का कोई भी प्रचलित धर्म निरर्थक लगता है।

डॉ0 अम्बेडकर कहते है कि, "यह जिम्मेदारी लोगों के कंधे पर देने के लिए धर्म में तत्व और सिद्वान्त होना चाहिए। धर्म केवल नियमों का समूह नहीं होना चाहिए। नियम बनाना या बताना धर्म का विषय नहीं है। जिस क्षण किसी धर्म का स्तर नियमों के संग्रह तक पहुंच जाता है उस क्षण में वह धर्म संज्ञा के लिए अयोग्य

---

1. वही, पृ0– 58

हो जाता है। क्योंकि धर्मकार्य निचोड़ है, जिम्मेदारी की चेतना और उसे ही वह खत्म कर देता है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म किस तरह है? वह तत्वों सिद्धान्तों का संचय है या नियमों का भण्डार है? वेद और स्मृतियों ने कहा हुआ है कि आज का हिन्दू धर्म केवल यज्ञों के संबंध में नियम, सामाजिक नियम, राजनीतिक नियम और तथाकथित शुद्धि के नियमों के खिचड़े के जत्थे के अलावा दूसरा कुछ भी नही है।[1] जिसे हिन्दू लोग धर्म मानते है, उसमें कई प्रकार की अज्ञात और निषेध, इसके अलावा कुछ भी नहीं। उसमें विश्व मानवता के लिए, उनके मानसिक और भावनीक उन्नति के लिए तत्व या सिद्धान्त रूप में कुछ भी नहीं है और यदि कुछ थोड़ी बहुत भी तो उनका हिन्दू जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। वेदो में अधिकांश जगह धर्म शब्द धर्माज्ञा और धार्मिक विधि इस अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। जैमिनी भी अपने पूर्व मीमांसा ग्रन्थ में धर्म की व्याख्या करते हैं, "धर्म का मतलब वेदों ने सूचित किया हुआ कोई अपेक्षित ध्येय या कार्य है, यही है।"[2] इसलिए डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि "आज्ञाओं के जत्थे को धर्म मानना उचित नहीं है। ऐसे धर्म को समाप्त कर देना कोई अधर्म नहीं है। जब तक लोग उसकी ओर धर्म की दृष्टि से देखते हैं तब तक वे उसमें परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं होगें।"[3] उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए बर्क के मत को स्वीकार किया और कहते हैं कि, सही धर्म समाज जीवन की बुनियाद है।

उन्होंने धर्म और मजहब (रिलिजन) इन दो संकल्पानाओं का बड़ा सूक्ष्म और गंभीर अध्ययन किया था, ऐसा प्रतीत होता है। वे धर्म और मजहब को एक नहीं मानते। वे दो अलग–अलग संकल्पनाएं मानते हैं। मजहब का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि, एक समय था जब बिजली, वर्षा और बाढ़ की घटनायें आदिम

1. वही, पृ०– 58

2. वही, पृ०– 59

3. वही,

आदमी की समझ से सर्वथा परे की बातें थीं। इन सब पर काबू पाने के लिए जो भी कुछ टोना–टोटका किया जाता था, 'जादू' कहलाता था। उस समय 'मजहब' और जादू एक ही चीज के दो नाम थे। तब मंजहब के विकास में दूसरा समय आया, इस समय मजहब का मतलब था– आदमी के विश्वास, धार्मिक कर्मकाण्ड ,रीति–रिवाज, प्रार्थनाएं और बलियों वाले यज्ञ। लेकिन मजहब का यह स्वरुप व्युत्पन्न है। मजहब का केन्द्र–बिन्दु इस विश्वास पर निर्भर करता हैं कि कोई शक्ति विशेष है जिसके कारण ये सभी घटनाये घटती हैं। और जो आदिम–आदमी की समझ से परे की बात थीं। अब इस आस्था तक पंहुच पर जादू का प्रभाव जाता रहा। आरम्भ में यह शक्ति शैतान का ही रुप था। किन्तु बाद में यह माना जाने लगा कि यह शिव रुप भी हो सकती है। तरह–तरह के विश्वास, कर्मकांड और यज्ञ शिव–स्वरुप शक्ति को प्रसन्न करने के लिए और क्रोधरुप शक्ति को सन्तुष्ट रखने के लिए भी आवश्यक थे। आगे चलकर वही शक्ति ईश्वर, परमात्मा या दुनिया का बनाने वाला कहलाई तब मजहब की मान्यता ने तीसरी शक्ल ग्रहण की, जब यह माना जाने लगा कि इस एक ही शक्ति ने 'आदमी' और 'दुनिया' दोनों को पैदा किया। इसके बाद मजहब की मान्यता में एक यह बात भी शमिल हो गई कि हर आदमी की देह में एक 'आत्मा' है, वह आत्मा नित्य है और आदमी जो कुछ भला–बुरा काम करता है, उस आत्मा को ईश्वर के प्रति उसके लिए उत्तरदायी रहना पड़ता है। यही हिन्दुओं का धर्म है।[1]

डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि इस तरह का मजहब या धर्म व्यक्तिगत चीज है और आदमी को इसे अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। इसे सार्वजनिक जीवन में बिल्कुल दखल नहीं देना चाहिए। लेकिन उन्होंने जिस धम्म (धर्म) की परिभाषा की है वह एक सामाजिक वस्तु है। यह प्रधान रूप से और आवश्यक रुप से सामाजिक

---

1. वही,

है। धम्म का मतलब है सदाचार, जिसका मतलब है जीवन के सभी क्षेत्रों में एक आदमी का दूसरे आदमी के प्रति अच्छा व्यवहार इससे स्पष्ट है कि यदि कहीं एक आदमी अकेला ही हो तो उसे किसी धम्म की आवश्यकता नहीं। उन्होंने मजहब या रिलिजन या हिन्दुओं के धर्म शब्द को, उसकी संकल्पना को पूरी तरह से अनिश्वरवादी, अनात्मवादी, अनित्यवादी, और मानव मात्र की महत्ता का प्रतिपादन, समर्थन और वर्धन करने वाली बताया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि हमें हिन्दू धर्म की कीमत नहीं है, हमें कीमत है इन्सानियत की, मनुष्यता की। और यदि इस तरह की इन्सानियत हमें हिन्दू धर्म से नहीं मिल सकती तो हिन्दुओं के दान धर्म पर जीने की हमारी बिल्कुल इच्छा नहीं है। हमें उनका दान धर्म नहीं चाहिए। हम इस देश के निवासी हैं। हमें अपने मानवीय अधिकार चाहिए,[1] उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म साम्राज्यवादी है और इसमें अछूत समाज हिन्दू मालिकों की सेवा कराने वाले नौकरों–गुलामों की तरह हैं।[2] इस गुलाम समाज को हिन्दुओं की दासता से मुक्त कराने के लिए डॉ० अम्बेडकर को हर मोर्चे पर लड़ना पड़ा।

डॉ० अम्बेडकर ने चातुर्य–वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत दैविक, धार्मिक, सामाजिक अभिशासन का स्वीकार नहीं किया, क्योकि इसमें शूद्र के साथ पशु की भांति व्यवहार किया गया था। इस वर्ण व्यवस्था में, इस धर्म में शूद को स्वतन्त्र व्यवस्था चुनने का कोई प्रावधान नही था। इसमें न तो आर्थिक स्वतन्त्रता थी और न–ही आर्थिक सुरक्षा। यह व्यवस्था विभिन्न स्तरीय अर्थात ऊंच–नीच पर आधारित एक कठोर व्यवस्था बन गयी थी। डॉ० अम्बेडकर का कहना है कि ये कैसी धार्मिक मान्यता है, जिससे एक मनुष्य दूसरे को छू भी नही सकता है ये कैसा धर्म है, जिसमें मनुष्य मनुष्य से घृणा करता है, पशु की भांति उससे व्यवहार करता है, कोई धर्म इतना

---

1. डॉ0 अम्बेडकर– द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा (द्वितीय आवृति– 1974) पृ0 225

2. वही, पृ0 –226

कठोर कैसे हो सकता है? क्या यही धर्म है ?

डॉ० अम्बेडकर की दृष्टि में वर्ण व्यवस्था सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर खरी नही उतरती हैं उसका देवकृति सामाजिक अभिशासन समाज को टुकड़ों में बांटता है, कार्य को रुचि से अलग करता है, श्रम को बुद्धि से असंबंध बनाता है और मनुष्य को जीवन के लिये अनिवार्य अधिकारों से वंचित रखता है। यह व्यवस्था संकट के समय सामान्य क्रिया को संचारित करने वाले संसाधनों को रोकती है। उन्होंने इस दैविक व्यवस्था में स्वतन्त्रता समानता तथा भ्रातष्त्व का अभाव होने के कारण उसे पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। धर्म की व्याख्या करते हुये डॉ० अम्बेडकर ने कहा है कि "धर्म एक सामाजिक शक्ति है और वह मनुष्य तथा समाज के लिए आवश्यक है।"[1] उनके अनुसार धर्म का मूल भूत तत्व व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के लिये वातावरण तैयार करना होता है।[2] एडमण्ड बर्क ने भी धर्म को परिभाषित करते हुये कहा है,कि सच्चा धर्म समाज की नीव है, वह आधार जिस पर समस्त सत्यनिष्ठ शासन आश्रित है, और उनकी स्वीकृति भी।[3]

डॉ० अम्बडेकर का मानना है कि "सभी धर्म अपनी पसन्द की सामाजिक व्यवस्थायें विकसित करना चाहते है ताकि लोगो को शान्तमय ढ़ग से प्रगति के लिये साथ–साथ लाया जा सके, किन्तु उन पर दैवकृत अभिशासन थोपना एक उदार खुली समाज की गति को अवरुद्व करना है। "सभी धर्म किसी न किसी प्रकार की पूजा–अर्चनायें, तीर्थ–यात्रायें, अनुष्ठान–समारोहों को आदमी के धार्मिक कर्तव्य के रुप में विकसित कर लेते है, जो सामान्यतः किसी धर्म के कुछ उपांग होते है, किन्तु किसी धर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग उसकी वह नैतिकता है, जिसका वह मानव कल्याण के लिये प्रचार करता है। धर्म का केन्द्र मनुष्य है, नैतिकता उसका अधार,

---

1. जाटव डी0 आर0, डॉ0 अम्बेडकर एक प्रखर विद्रोही, ए0बी0डी0 पब्लिशर्स नटराज, जयपुर, 2004–पृ0 89

2. नैमिशराय, मोहनदास, पूर्वोक्त पृष्ठ–84

3. (उद्धृत) जाटव डी0 आर0, पूर्वोक्त, पृष्ठ– 89

मनाव जाति का लौकिक कल्याण इसका मुख्य उद्देश्य, और साधन वह सम्यक आचरण है। जो सामाजिक उत्तरदायित्व में निहित है ओर जिसे मानव समाज में रह रहे सभी मानव प्राणियों के प्रति निभाना है और उनका हित करना है।"[1]

विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं, परन्तु किसी धर्म में मानव के साथ बुरे व्यवहार को परिभषित नहीं किया गया है, भारतीय धर्म के अनुसार भी मानव के कल्याण हेतु कार्य करने को कहा गया है, फिर हिन्दू धर्म में ये कैसी बुराई है, जो शूद्र को नारकीय जीवन जीने को विवश करती है ? हर धर्म ये कहता है कि मनुष्य को मनुष्य से व्यवहार करना चाहिये, सभी मानव प्राणी का सामाजिक समानता का अधिकार होना चाहिये, हर व्यक्ति को आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये फिर हिन्दू धर्म में शूद्र के लिये इतनी सारी पाबंदिया क्यों ?

डॉ० भीमराव अम्बेडकर कहते है कि जो धर्म अपने ही अनुयायियों को कुत्तों और अपराधियों से भी बदतर मानता है और उन पर नारकीय मुसीबतें बरसाता है वह धर्म हो ही नही सकता। डॉ० अम्बेडकर ने स्पष्ट उद्घोष किया "जिस धर्म में मनुष्य को मनुष्यता से व्यवहार करना मना है, वह धर्म नहीं है, उदण्डता का प्रदर्शन है। जिस धर्म में मानव की मनावता को पहचानना, अधर्म माना जाता है। वह धर्म नही है, बल्कि एक रोग है। जिस धर्म में पशु को छूत और मनुष्य को अछूत समझा जाता है, वह धर्म नहीं है एक पालगपन है वह धर्म जो अशिक्षितों से कहे अशिक्षित रहो, निर्धनों से कहे निर्धन रहो, वह धर्म नही वरन् सजा हैं।[2]

वास्तव में डॉ० अम्बेडकर असमानता उत्पन्न करने वाले धर्म को धर्म के रुप मे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था, "जिस धर्म में एक वर्ग विद्याध्ययन करें, दूसरा शस्त्र धारण करे, तीसरा व्यापार करे, तथा चौथा सिर्फ सेवा

---

1. डॉ0 बाबा साहब अम्बेडकर, राईटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड–3ए 1987, पृ0 92
2. धनन्जय कीर (उद्धृत) डॉ0 अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन, 1962 पृ0 273–74।

करे, ऐसा कहा गया है वह धर्म मुझे स्वीकार नहीं । जो एक को विज्ञ बनाये रखने के लिये दूसरों का अज्ञ बनाये रखता है, वह धर्म नही बल्कि लोगो को बौद्धिक गुलामी में रखने का षड़यंत्र है। जो धर्म एक के हाथ में शस्त्र देकर, दूसरे को निशस्त्र करता है वह धर्म नहीं है, बल्कि एक के द्वारा दूसरे को पराधीन रखने की चालाकी है। जो धर्म कुछ लोगों को धन सम्पति रखने का अधिकार देता है और शेष लोगो को जीवन निर्वाह के लिये दूसरो पर आश्रित रहने को कहता हैं वह धर्म नही है, बल्कि स्वार्थ परायणता है। हिन्दू धर्म का चातुर्यवर्ण ऐसा है।"[1]

डॉ० भीमराव अम्बेडकर को हिन्दू से, न हिन्दू धर्म से कोई बुराई थी, और न ही उनको किसी धर्म से घष्णा थी, उनको कष्ट था तो पाखण्ड से, उन्होंने कहा भी है, "मै धर्म चाहता हूँ धर्म के नाम पर पाखण्ड नही।" उन्हे हिन्दू धर्म से घृणा होने लगी थी तो केवल हिन्दू धर्म की परम्पराओं के कारण शूद्र को मंदिर में नहीं जाने दिया जाता था, तालाब से पानी नही पीने दिया जाता था, अध्यापक पढ़ाने से मना कर देते थे और नाई बाल काटने से मना कर देता था।

उच्च वर्ग में लोग गलियो में घूमने वाले जानवर को छू सकते थे लेकिन शूद्र को छू लेने से छूत लग जाती थी और नहाना पड़ता था। अस्पृश्यों को घृणा भरी दृष्टि से देखना एवं तिरष्कृत करना, तरह–तरह के नियम जो केवल अछूतो पर लागू थे, डॉ० भीमराव ने ऐसे धर्म को धर्म मानने से इन्कार कर दिया। हिन्दू धर्म की इतनी बुरी दशा के लिये ब्राह्मणवाद को दोषी माना है। आपका कहना है कि ब्राह्मणवाद की विचार धारा एक ऐसा विषाक्त दर्शन है। जिसने समस्त हिन्दू समाज को स्तम्भित कर दिया है। वर्तमान स्थिति में उसने सम्पूर्ण भारतीय राजनीति को दूषित बना दिया।[2] उन्होंने कहा यदि आप हिन्दू धर्म को बचाना चाहते हैं तो ब्राह्मणवाद को

---

1. नैमिशराय मोहनदास, पूर्वोक्त, पृ0 85

2. वही, पृ0 89

खत्म करो। लेकिन डॉ० भीमराव ने अपनी बात को साफ करते हुये कहा कि मुझको ब्राह्मण जाति से या ब्राह्मण से कोई कष्ट नही है, मैं तो ब्राह्मणवाद के खिलाफ हूं। इसमें ब्राह्मण के अलावा और भी जाति आ सकती है जिनकी मानसिकता बाह्मणवादी हो वो उच्च एवं निम्न दोनो भी हो सकते है।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने स्पष्ट करते हुए कहा कि ब्राह्मण से मेरा तात्पर्य ब्राह्मणों की उस शक्ति विशेषाधिकारों तथा हितों से नही है, जो उन्हे एक समुदाय के रुप में मिले हुये हैं। मै इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। ब्राह्मणवाद से मेरा मतलब स्वतन्त्रता, समता तथा भ्रातृत्व–भाव के निषेध से है। इस अर्थ में वह सभी वर्गो में विद्यमान है, केवल ब्राह्मणो तक ही सीमित नही है, हांलाकि वे ही इसके जन्मदाता रहे है। ब्राह्मणवाद का प्रभाव केवल सामाजिक अधिकारों जैसे अन्तर्जातीय खान–पान तथा अन्तर्जातीय विवाह तक सीमित नहीं है। ब्राह्मणवाद नागरिक अधिकारों का भी निषेध करता है। यहां ब्राह्मणवाद इतना व्यापक है कि वह आर्थिक अवसरों के क्षेत्र को भी प्रभावित करता है।[1]

डॉ० भीमराव अम्बेडकर का तमाम तरह की पांबदी, छलकपट, आडम्बर एवं छुआ–छूत के कारण हिन्दू धर्म से मोह भंग हो चुका था। और उनको लगने लगा था कि अब हमको इस धर्म में नही रहना चाहिये क्योकि हिन्दू धर्म में अछूतों के लिये निम्न से निम्नतर जानकर व्यवहार होता था। उन्होंने अछूत समाज का आहवान किया और–याद दिलाया कि आप कैसे इस धर्म में रह रहे हो ? क्योकि "हिन्दू धर्म मेरी बुद्धि को जंचता नही स्वाभिमान को भाता नही। मनुष्य, धर्म के लिये नही है, बल्कि धर्म, मनुष्य के लिये है। जो धर्म तुम्हारी मनुष्यता का कुछ भी मूल्य नही मानता, उस धर्म में क्यों रहते हो ? जो धर्म तुम्हे मंन्दिर में नही जाने देता, उस

---

1. वही, पृ0 87

धर्म में तुम क्यों रहते हो ? जो धर्म तुम्हें पानी तक नही मिलने देता, उस धर्म में तुम क्यों रहते हो ? जो धर्म तुम्हें शिक्षा प्राप्त नही करने देता, उस धर्म में तुम क्यो रहते हो? जो धर्म तुम्हारी नौकरी में बाधक बनता है उस धर्म में तुम क्यों रहते हो? जो धर्म तुम्हें बात–बात पर अपमानित करता है, उस धर्म में तुम क्यों रहते हो?"[1] ऐसे धर्म को त्याग कर दूसरे धर्म को अपनाना चाहिये जिसमें स्वाभिमान हो और जीने की स्वतन्त्रा हो खुला आसमान हो, सम्मान हो।

धर्म का त्याग मजबूरी में किया जाता है जब मनुष्य का सम्मान और इज्जत तार–तार हो जाते है तब व्यक्ति बगावत करने को मजबूर होता है और व्यक्ति दूसरी जगह अपना खोया सम्मान पाने की लालसा रखता है। डॉ० अम्बेडकर ने देखा कि हिन्दू धर्म में हमें कोई भी उच्च वर्ग के लोग पास बैठाने को राजी नही हैं तो क्यो न हम अपना धर्म ही बदल दें? हम हिन्दू धर्म के हैं और हिन्दू धर्म के लोग ही हमें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। सवर्ण हिन्दू अछूतों के साथ जानवरों से भी बद्तर व्यवहार करते है। स्पृश्य लोग शादी, तीज, त्योहारों आदि में हजारों लाखों खर्च करते है, परन्तु अस्पृश्य दूल्हा घोड़े पालकी में भी नही बैठ सकता है, और यदि ऐसा करता है तो उसको एवं सारे बरातियों को समाज के सामने अपमानित किया जाता है और भी कई प्रकार के दण्ड दिये जाते है। ऐसे जघन्य कार्य जिस धर्म का अभिन्न अंग बना हो और धर्म के ठेकेदारों के कान पर जू तक नही रेंगती हो, तो उस धर्म में कब तक अपने को बलिदान करते रहेंगे?

प्राकृतिक झरने एवं नदियां जिसका जल प्रयोग करने का प्राकृतिक अधिकार है, गांव में कुआ, तलाब, जिसका पानी सार्वजनिक होता है लेकिन इनका इस्तेमाल अस्पृश्य लोग नही कर सकते हैं। हद हो गयी शहनशीलता और धैर्य की। इन

---

1. वही, पृ० 86

अत्याचारों से ये बात साफ हो जाती है कि हिन्दू लोग हिन्दू अस्पृश्य लोगों को हिन्दू धर्म में रहते हुये सम्मान नही दे सकते, हिन्दू धर्म को छोड अन्य धर्म अपमाने पर हिन्दुओ से भी सम्मान पा सकते है तो फिर अछूत हिन्दू धर्म में नारकीय और बेइज्जती की जिंदगी क्यों बिताये ?[1] इस सम्बन्ध में उनके निम्न कथनों पर गौर किया जाय तो इस धर्म के प्रति उनके भावों का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। उनका कहना है कि "हिन्दू धर्म असमानता का धर्म है संसार के इतिहास में मानवता के अन्दर कही भी ऐसी विषमता नही है जैसी हिन्दू धर्म में, अछूताछूत हिन्दू धर्म की एक अद्‌भुत और विशेष उपज है जहां एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को इतना अधिक पतित समझे कि उसको छूने से इन्कार करे, ऐसी प्रथा हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के अतिरिक्त कही भी नहीं है।" यदि (हिन्दू) शास्त्र वर्तमान छुआ छूत का समर्थन करते है इसी तरह यदि शास्त्र जात–पात का, उसमें मौजूदा सारे घिनौनेपन के रुप में समर्थन करते है। तो मुझे हिन्दू कहना बंद कर देना चाहिए मुझे न खुद को हिन्दू पुकारना और न हिन्दू बने रहना चाहिये।[2]

डॉ० भीमराव अम्बेडकर के साथ भेदभाव इतना ज्यादा हुआ था कि हिन्दू धर्म के नाम से भी उनको चिढ़ लगने लगी थी उन्होंने एक बार हिन्दू धर्म को धिक्कारते हुए कहा कि हिन्दू धर्म तो आरम्भ से खोटा सिक्का हैं। हिन्दू धर्म के समाज सिद्वान्तों ने हिन्दू समाज पर सबसे अधिक अपमान जनक प्रभाव डाला है। यह तो नीत्से का धर्म हैं नीत्से में भी मनु के समान ही धर्मादेश दिये थे। यह वह धर्म है जो वास्तव में स्वतन्त्रता समानता और बन्धुत्व स्थापित नही करता। यह नीत्से के आदर्श मानव ब्राह्मण को पूजनीय घोषित करता है इसके अनुसार केवल ब्राह्मण ही जीवित रहने और शासन करने के लिये पैदा हुआ है। अन्य सब उसकी सेवा

---

1 स्नेही, डॉ0 कालीचरण, भारतरत्न डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, अराधना ब्रदर्स, कानपुर 1991 पृ0 92–93

2 नैमिशराय, पूर्वोक्त, पृ0 88

करने के लिये ही पैदा हुये हैं।[1] उन्होंने आगे कहा कोई व्यक्ति जो जन्म जात मूर्ख नही है, इस चातुवर्ण समाज को एक आदर्श समाज कैसे स्वीकार कर सकता है? व्यक्तिगत और सामाजिक रुप में यह एक मूर्खता और अपराध है।

असमानताओं पर आधारित समाज कभी एक सशक्त राष्ट्र नहीं बन सकता। वर्गीय विषमता विद्वेष को जन्म देती है और विद्वेष विभाजन का कारण बनता है। विभाजन की मानसिकता राष्ट्रवाद के तन्तुओं को कमजोर बनाती है। डॉ० अम्बेडकर इस तथ्य से भली भांति परिचित थे। अतः वे एक ऐसे धर्म को प्रोत्साहित करने के पक्ष में थे जो समनाता और सद्भाव पर आधारित समाज की स्थापना कर सुदष्ढ़ राष्ट्र की नीव डाल सके। स्पृश्यों द्वारा अस्पृश्यों के साथ किये गये घोर अत्याचार का परिणाम धर्मान्तरण के रुप मे सामने आया। व्यक्ति की मानवी स्वतन्त्रता की संकल्पना ही मूल रुप से नष्ट हो गयी थी, धर्म व्यक्ति के लिये नही बल्कि व्यक्ति धर्म के लिये है, इस धर्म संकल्पना ने भारतीय मानस को अचेतना की स्थिति में लाकर रख दिया था। इसका सबसे बुरा प्रभाव शूद्र और अतिशूद्र जातियों पर हुआ था, जो उनकी गुलामी में परिवर्तित हो गया था। हिन्दू धर्म ने उनके स्वतन्त्र सोच की भावना को समूल नष्ट का दिया था। जिस समाज की सोच स्वतन्त्र न हो वह समाज कभी भी अपनी स्वतन्त्रता, मुक्ति के सपने नही देख सकता, व्यक्ति के स्वतन्त्र होने की पहली और प्राथमिक शर्त है उसकी सोच स्वतन्त्र हो। हिन्दू धर्म ने अब्राह्मणों के इसी अधिकार को छीन लिया था। और बाद में एक के बाद एक अधिकार हड़प लिये गये और उनकी गुलामी का नग्न स्वरुप साकार हुआ। धर्म की गुलामी कितनी भयानक हो सकती है इसका वर्णन डॉ० अम्बेडकर के व्याख्यानों और लेखो से स्पष्ट होता है, उन्होंने दलित समाज को बार–बार इस बात के लिये सजग

---

1. शास्त्री शकरानंद, युग पुरुष बाबा साहेब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर,, नई दिल्ली 1990, पृ0269।

किया कि, तुम्हारे गले में पहनी हुई तुलसी की माला तुम्हें साहूकारों के सूद से नही बचा सकती, चूंकि तुम लोग राम के गीत गाते हो इस लिये तुम्हे कोई भी घर मालिक सस्ते किराये पर घर देने वाला नहीं है, तुम लोग हर साल पंढर पुर जाते हो, इससे तुम्हें कोई साड़ियां नसीब नही होती। तुम ऐसी व्यर्थ की बातों में भ्रांतियो में जादू टोने में फंसे हुये हो इस लिये सवर्णो को तुम पर अत्याचार करने का अच्छा मौका मिल जाता है।[1] इसीलिये मैं कहता हूं कि तुम्हें अपनी गुलामी तथा गरीबी स्वयं ही दूर करनी होगी। तुम्हारी गरीबी को कोई भगवान या कोई देवता तथा कोई बड़ा नेता दूर कर देगा इस विचार को मन से निकाल दो। डॉ० भीमराव अम्बेडकर का हिन्दू धर्म से मोह भंग हो चुका था और वो किसी दूसरे धर्म को अपनानें का मन बना चुके थे। 13 अक्टूबर 1935 को वह दिन भी आ गया जब डॉ० अम्बेडकर ने येवला (महाराष्ट्र) की महापरिषद में हिन्दू धर्म को घोषित रुप से त्याग करने की घोषणा की और उस परिषद में उन्होंने कहा था कि मैं हिन्दू धर्म में पैदा हुआ यह मेरे बस की बात नही थी किन्तु अब मैं हिन्दू होकर मरुंगा नहीं।[2] उनकें इन शब्दों में उन पर अर्थात दलित समाज पर हिन्दू धर्म की सदियों की जो गुलामी थी उसके प्रति कितनी नफरत पैदा हो गयी थी और वे उस गुलामी से मुक्त होने के लिये कितने बेचैन थे, इस बात का पता चलता है। उनके हिन्दुत्व को नकारने की घोषणा के पीछे दलित समाज पर सदियों से थोपी हुई हिन्दुओं की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गुलामी की जड़े कितनी गहराई तक पहुंच चुकी थी। और उस गुलामी के मूल कहां थे इस बात का पता लगता है इसी ऐवला की परिषद में उन्होनें अपने आन्दोलन को और सवर्ण हिन्दू मानसिकता हिन्दू चेतना की मीमांसा करते हुये कहा था कि हम अपने साधारण इंसानियत के अधिकारों के लिये और हिन्दू समाज से ही

---

1. विमल कीर्ति, डॉ0 एल0 जी0, पूर्वोक्त वही पृ0 स0 761

2. नैमिशराय पूर्वोक्त वही पृ0 स0 – 70

समानता का दर्जा प्राप्त करने के लिये यह आन्दोलन सफल हुआ है, इसलिये अब इन तमाम समस्यायों के सम्बंध में अन्तिम निर्णय का वक्त आ गया है, हम सभी की दुर्बल स्थिति और हमारा पतन इस हिन्दू समाज के अंग बन कर रहने के कारण हुआ है। हिन्दू धर्म से तुम अपना सम्बंध तोड़ दो और से वहाँ स्वाभिमान तथा समानता प्राप्त हो सकती है ऐसे धर्म में जाओं।[1] मतलब अब वे इस निर्णय पर पहुँच चुके थे कि हिन्दू बनकर रहने में दलित समाज किसी भी मानवीय समानता के अधिकारों को शायद ही प्राप्त कर सकेगा और यदि कुछ अधिकार लड़ झगड़ कर मिल भी जाये तो हिन्दू समाज उन्हें मिलने नही देगा, क्योकि उनके धर्म शास्त्रों के अनुसार मानवीय समानता के अधिकारों को प्राप्त करने का अधिकार दलितो को है ही नहीं।

जब तक दलित समाज हिन्दू समाज के एक अंग के रुप में बना रहेगा तब तक उसे गुलामी से मुक्ति नहीं मिलेगी। हिन्दू समाज में ही रहकर किसी भी प्रकार का सुधार परिवर्तन सम्भव ही नही नामुमकिन था और हिन्दू समाज में जिन–जिन समाज सुधारकों ने समाज सुधार की बात की वे या तो पहले हिन्दू समाज से ही बहिष्कृत कर दिये गये या उन्हे प्रभाव हीन बना दिया गया। वे सुधार के मामले में हिन्दू समाज में प्रभावी साबित नही हुये। लेकिन जिन अछूतों ने हिन्दू धर्म को त्याग करके इस्लाम या ईसाई धर्म को अपनाया उन्हें ईसाई या मुसलिम बन जाने के कारण उन–उन धर्म के सभी अधिकार प्राप्त हो गये, वहा उन्हे स्वाभाविक समानता के अधिकार प्राप्त हो गये। वहां उनका अछूत पन हिन्दू धर्म को नकार देने मे ही समाप्त हो गया और महत्व की बात यह भी है कि वार्मान्तरित लोग हिन्दुओं के लिये भी अछूत नही रहे। अब हिन्दू लोग भी उनसें अछूतपन का व्यवहार नही करते थें।[2]

1. वही, पृ0 62

2. (उद्धृत) ल0र0 बाली– डॉ0 अम्बेडकर जीवन और मिशन पृ0 स0–132

वे ही लोग जब हिन्दू धर्म या समाज का अंग बनकर रहतें हैं तो अछूत हैं और वे ही लोग जब मुसलिम या ईसाई बन जाते है तो उनके साथ समानता का व्यवहार कैसे होता हैं? यह बड़ी अजीव मानसिकता है।

डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तरण की घोषणा की इसके बाद उन्होंने इस विषय को दलित और सवर्ण हिन्दू तथा अहिन्दू सभी के लिये व्यापक चर्चा का विषय बना दिया, विशेष रुप से दलित समाज में इस पर खूब चर्चा हुयी। डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तरण की अवश्यकता के महत्व का प्रतिपादन करते हुये कहा कि "तुम्हारी इंसानियत के लिये धर्मान्तरण करना आवश्यक हो गया है अपनी इस मटियामेट जिन्दगी को सुनहरा अवसर प्राप्त कर देने के लिये ही मुझे धर्मान्तरण की आवश्यकता महसूस हो रही है।[1] धर्मान्तरण की घोषणा के बाद दलित जनता में कौतूहल अनुभव करने के बाद देखा कि कुछ लोग इसको हल्के में ले रहे है तो डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि "धर्मान्तरण करना यह कोई बच्चों का खेल नही है, न तो मौज का विषय है। यह तमाम दलितों की जिन्दगी और मौत का विषय हैं हिन्दू धर्म को त्याग करके ही हम नये किन्तु मानवता और मनुष्यता से परिपूर्ण जीवन को प्राप्त कर सकते हैं।"[2]

डॉ० अम्बेडकर की यह धर्मान्तरण की घोषणा किसी दैवी या आध्यात्मिक समानता के अधिकारों और सुख की प्राप्ति के लिये नहीं थी। बल्कि सामाजिक और ऐहिक जीवन में समानता, स्वतन्त्रता के तमाम अधिकारों की प्राप्ति के लिये थी। उनकी यह घोषणा पूरी तरह से अनीश्वरवादी और अनात्मवादी भी थी। इस घोषणा के कारण कुछ लोगों का यह कहना था कि डॉ० अम्बेडकर ने अपनी राजनीतिक असफलता और निराशा के कारण चिढ़ की भावना से धर्मान्तरण की घोषणा की थी। लेकिन यह मत पूरी तरह से दलित मुक्ति विरोधी था। धर्मान्तरण की घोषणा दलित

---

1. डॉ0 अम्बेडकर भाषण–महार परिषद, येंवला जिला नासिक दि0 13–10–1935
2. विमल कीर्ति, पूर्वोक्त पृ0 स0 63

मुक्ति आन्दोलन का एक नया कदम था।

अस्पृश्यों की पाशविक का वर्णन करते हुये, डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने कहा कि "हम अपने आपको हिन्दू अवश्य कहते हैं लेकिन हम हिन्दू मन्दिरों में नही जा सकते हैं, पुरोहित नही बन सकते हैं, तालाब का पानी नही पी सकते, यही नही हम दूसरे (स्पृश्य) लोगों को छू भी नही सकते हैं और हमारे छूने से दूसरे (स्पृश्य) अपवित्र हो जाते हैं। ऐसे धर्म में रहकर क्या करेंगे? हम रहे या न रहे, दोनो बराबर हैं, क्योकि आज तक हिन्दू लोग किसी प्रकार का अधिकार या सहूलियत देने के लिये तैयार नही हैं।[1]

डॉ० भीमराव अम्बेडकर हिन्दू धर्म की रुढिवादी परम्पराओं से भली–भांति परिचित थे। कुछ लोग अस्पृश्यों की समस्याओं के समाधान के लिये कहते हैं। आप लोग शांत रहें और प्रतीक्षा करें क्योकि हजारों सालो से चली आ रही इन रुढ़ियो को एक दो दिन में किस प्रकार से बदला जा सकता है। इस प्रकार की बात करने वाले लोगो से डॉ० भीमराव ने कहा कि तुम एक या दो दिनो के लिये अछूत बन कर देखो। हमें एक दो दिन नही बल्कि सैकडो साल गुजर गये हैं और हम अपमान का कड़वा घूट पीकर जीते थे आज भी जी रहे है परन्तु आगे नही जीना चाहते हैं न जाने कब से हम अछूत है, जिसने भी इसे दूर करने का प्रयत्न किया है या कहता हैं। वह केवल मगरमच्छ के आंसू बहाने का ढोंग करता हैं। अस्पृश्यों के सिर मढ़ा हुआ यह अपमान अभी तक नही गया है। इस अन्याय एवं शोषण करने वाले धर्म में रहकर यह दूर होने वाला नही इस विकट एवं विशाल स्थिति को देखकर डॉ० अम्बेडकर ने प्रतिज्ञा की कि यह मेरा दुर्भाग्य है जो मेरा जन्म हिन्दू धर्म में हुआ है लेकिन आज मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूं कि हिन्दू होकर जन्म लेने पर भी हिन्दू के रुप

---

1. डा0 धर्म कीर्ति, डॉ0 अम्बेडकर का नरक से छुटकारा, गौतम प्रिटंर्स, नई दिल्ली 1998 पृ0 10

में नही मंरुगा। मैं इस प्रतिज्ञा को अवश्य पूरा करुगां।[1] डॉ० साहब की इस प्रतिज्ञा में धर्म परिवर्तन स्पष्ट रुप से परिलक्षित होता है। इस प्रतिज्ञा में कही भी अस्पृटता और द्विअर्थकता दृष्टिगोचर नही होती।

13 अक्टूबर 1935 में यवला नासिक में डॉ० भीमराव ने कहा था, आदरणीय बहनों और भइयों । जिस दिन हिन्दू धर्म को हमने अपना धर्म समझा तभी से उसमें समानता, भ्रातष्त्व, न्याय और स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नही है इसलिये हमारे समाज को सम्माननीय स्थान दिलाने के लिये हमने कई वर्ष तक नासिक में कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह किया, रामकुण्ड प्रवेश सत्याग्रह और रामरथ शोभायात्रा निकालने जैसे आन्दोलनो को प्रारम्भ किया। शक्तिहीन और धनहीन होने पर भी हमारे लोगो ने बड़ी बुद्धिमता और अनुशासन बद्ध होकर सत्याग्रहों को चलाया लेकिन उसका कोई फल हमें नही मिला। बई प्रान्तीय दलित वर्ग परिषद ने सारी परिस्तिथियों का परिक्षण करने के बाद निम्नलिखित प्रस्ताव को एक मत से आपके सामने रखा है।[2] जिसके अनुसाार "असमानता और विषमता वाले हिन्दू देवी देवताओं, मंदिरों और रथ की शोभायात्रा के सम्बन्ध में हमारा कोई सम्बन्ध न होने के कारण किसी प्रकार की सभा जूलूस या शोभायात्रा में भाग न लें। अखिल बम्बई दलित वर्ग परिषद ने एकमत से इस प्रस्ताव को पास किया है। सभी से प्रार्थना हैं कि वे इस प्रस्ताव को आचरण में लायें ये हमारे सम्मान और अभिमान की कसौटी है, मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस परीक्षा में हम सफल होंगे। इसी से हमारे समाज का नाम होगा।"[3]

यवला–नासिक में धर्म परिवर्तन पर ऐतिहासिक उर्पयुक्त प्रस्ताव के पास होने के उपरान्त डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने अस्पृश्य समाज की विभिन्न जातियों और

---

1. वही, पृ0 10
2. (उद्धृत) वही, पृ0 11
3. वही,

उपजातियों के लोगों से कहा कि वे अपने–अपने समाजों में परिषद का आयोजन करके इस प्रस्ताव को पास करें। डॉ० अम्बेडकर ने 'धर्म परिवर्तन' क्यों और किस लिये करना चाहियें, इस विषय पर बोलते हुये कहा कि "यह महार परिषद धर्म परिवर्तन की घोषणा पर विचार करने के लिये खास करके बुलाई गयी हैं। मेरी दृष्टि में हमारें लिये आज जीवन–मरण का प्रश्न है। इसलिये भी यह बड़ा महत्वपूर्ण है, जितना यह विषय महत्वपूर्ण है उतना ही गम्भीर भी है, मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस महान विषय को मै आप सबके सामने सुलभ और आसान शब्दों में रखूंगा, ताकि आप इस पवित्र पथ को अपनाने के पूर्व अच्छी तरह विचार कर सके और समझ सकें। उन्होंने अपने ऐतिहासिक भाषण को जारी रखते हुये कहा कि सबसे प्रथम धर्म परिवर्तन के सम्बनध में सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से विचार करना जरुरी है, सांसारिक और तात्विक दृष्टिकोण से भी विचार करना जरुरी है। सबसे पहले जो आप लोगो पर आमनुषिक अत्याचार होते है उनको रोकने की कोशिश करना चाहिये।

डॉ0 अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म ही क्यों ग्रहण किया ?

उपर्युक्त तार्किक एवं दार्शनिक विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म क्यों त्यागा? अब अहम् प्रश्न यह है कि डॉ० साहब ने 13 अक्टूबर 1935 में हिन्दू धर्म को त्यागने और अन्य धर्म ग्रहण करने की घोषणा की थी, फिर इतने लम्बे समय के बाइ उन्होने धर्म परिवर्तन क्यों किया और बौद्ध धर्म ही क्यों ग्रहण किया? कुछ लोग इस धर्म परिवर्तन को राजनीति से प्रेरित होना

बताते हैं। क्या यह वास्तव में सच था या फिर दुष्प्रचार? इस शोध में इसी प्रश्न की विवेचना है।

डॉ० अम्बेडकर ने सभी धर्मो का गंभीर एवं व्यापक अध्ययन किया था। उनके सामने कई धमों के विकल्प खुले हुए थे, कि उनमें से किस धर्म को अपनाया जाय। इस संदर्भ प्रोफेसर बुद्धप्रिय मौर्य, जो अनेकों वर्षो तक डॉ० अम्बेडकर के निकट सहयोगी रह चुके हैं, अक्सर कहा करते हैं, कि "डॉ० अम्बेडकर महान देश भक्त थे। वह नहीं चाहते थे कि वह किसी ऐसे धर्म को अपनायें, जिनकी जडे व संस्कृति विदेशी हो। ऐसा धर्म अपनाने से उनकी सोच विदेशी होगी। और उनके अनुयायी फिर भारत की ओर कम तो अरब और यरुशलम की ओर अधिक देखेगें।[1] इस प्रकार भारत की अखण्डता को खतरा हो सकता है। इस बात से प्रेरित होकर डॉ० अम्बेडकर ने इस्लाम और ईसाई धर्मो को नहीं अपनाया। डॉ० अम्बेडकर की इस महान देशभक्ति पर आज कुछ बिना पढ़ें लिखें लोग और 'अरूण शौरी' जैसे पत्रकार प्रश्नवाचक चिन्ह लगा रहे है। शायद वह नहीं जानते कि उन्ही के दल के नेता श्री कल्याण सिंह मुख्यमंत्री उ0प्र0 ने 14 अप्रैल 1998 को डॉ० अम्बेडकर की जयंती पर हापुड़ में एक विशाल सभा के अन्तर्गत अपने ह्रदय के उद्‌गारों को अभिव्यक्ति करते हुए डॉ० अम्बेडकर के प्रति श्रृद्धा सुमन अर्पित करते समय कहा था कि, "डॉ० अम्बेडकर एक महान देशभक्त थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने धर्मान्तरण के समय बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। यदि वह इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण कर लेते, तो आज भारत का नक्शा ही कुछ और होता।[2]

दूसरी बात इस्लाम और इसाई धर्मो में समाज वर्गो में बंटा हुआ है। वहां पर हिन्दुओ जैसी पागलपन रखने वाली जातियां तो नहीं हैं लेकिन उनमे भी शेख,

---

1. (उद्धृत) डॉ० धर्मकीर्ति, पूर्वोक्त पृ० 33
2. (उद्धृत) वही,

मुगल, पठान, मौमिन, भिस्ती आदि अनेक वर्ग हैं। जिनमें रोटी का संबंध तो है लेकिन बेटी का नहीं। इसके साथ ही साथ इस्लाम धर्म का तत्व–दर्शन, नीतिशास्त्र, श्रृष्टिवाद, ज्ञान शास्त्र आदि डॉ० साहब को प्रभावित नहीं कर पाये। इस्लाम का तर्क शास्त्र अधिक सशक्त न होने के कारण अधिक प्रभाव शाली नहीं हो पाया। लगभग यही स्थिति ईसाई धर्म की थी, जो डॉ० अम्बेडकर को प्रभावित नहीं कर सकी। यद्यपि मूल ईसाई धर्म में जातिवाद नहीं था, लेकिन भारत में आने के बाद वह भी हिन्दू धर्म के छुआछूत की बीमारी के कीड़ो से अछूता न रह सका।

डॉ० अम्बेडकर के सामने दो विकल्प और थे, एक सिक्ख धर्म तो दूसरा बौद्ध धर्म! सिक्ख धर्म ने डॉ० अम्बेडकर को बहुत प्रभावित किया और उनका झुकाव सिक्ख धर्म की ओर हुआ। इस संबंध में अनेक बार सिखों के नेता मास्टर तारा सिंह से भी चर्चा हुई। सिक्ख धर्म की ओर प्रभावित होने के कुछ कारण सम्भव हो सकते हैं। जैसे गुरू द्वारे में सभी के लिए बिना रोक टोक प्रवेश, सभी सिक्खों को कटार, तलवार, भाला आदि रखने का धार्मिक अधिकार और उनकी एकता ने उन्हे अवश्य प्रभावित किया था। डॉ० अम्बेडकर इस बात को जानते थे कि यदि शूद्रों को हथियार रखने का अधिकार होता, तो निश्चित रूप से सत्य है कि उन पर होने वाला शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार और अन्याय नही हो पाते, उन्होने इस बात को सोचा होगा कि सिक्ख होने पर यह लोग शक्ति संचय करके हथियारों के बल पर अपने ऊपर होने वालें अत्याचारो और अन्याय समाप्त कर सकेंगे। इस बीच डॉ० साहब ने और विचार करने के उपरान्त पाया कि सिक्ख धर्म मे ऊपर से लगता है कि उसमें जातियां नहीं है, परन्तु गहराई से अध्ययन करने पर पता चला कि इसमें भी हिन्दू धर्म की भांति जाति व्यवस्था अत्यंत कठोर एवं कट्टरता से भरा है।

अब डॉ० अम्बेडकर के सामने चौथा विकल्प बचा। वह था केवल बौद्ध धर्म। बौद्ध धर्म ने डॉ० अम्बेडकर को सभी दर्षष्टिकोणों से प्रभावित किया। डॉ० अम्बेडकर की शिक्षा– दीक्षा विदेशों में होने और अमेरिकन प्रोफेसर जॉन डी.वी. के प्रिय शिष्य होने के कारण उनके वैज्ञानिक दृष्टि कोण और उपयोगिता वादी विचार धारा में अत्यंत सशक्तता आ गई थी। उन्हे बौद्ध धर्म के दर्शन, विशेषकर अनित्यता, अनात्मवाद, और अनिश्वरवाद ने विशेष प्रभाव डाला। उन्हें धर्म के सशक्त नीति शास्त्र महानतम तर्क शास्त्र और वैज्ञानिक ज्ञान शास्त्र ने बहुत प्रभावित किया था। वर्ण– व्यवस्था और जाति के विषय में बुद्ध के विचारों ने डॉ० अम्बेडकर पर अमिट छाप छोड़ी। उन्होंने अनुभव किया कि बौद्ध धर्म में पाखण्ड, अंधविश्वास आदि के लिए किंचित मात्र भी स्थान नहीं है। सभी प्रकार के शोषणों, उत्पीड़नों, अत्याचारों और अन्याय को सामाप्त कर समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय मूलक समाज की स्थापना बौद्धधर्म में ही सम्भव हो सकती है। बौद्ध संस्कृति की महानता व्यापकता और श्रेष्ठता से ही दलितों का उद्धार सम्भव हो सकता है। ऐसा उन्होने अनुभव किया इस लिए डॉ० साहब भीमराव अम्बेडकर को बौद्ध धर्म ने आकर्षित किया और अंत में वे तथागत बुद्ध की शरण में गये।

यदि डॉ० अम्बेडकर के धर्मान्तरण का वैज्ञानिक, तार्किक, निष्पक्ष, एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन और विवेचन किया जाय, तो निर्पेक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि उनके धर्मान्तरण का सर्वोच्च्व साध्य भारत का सर्वांगीण विकास एवं सशक्त राष्ट्र का निर्माण करते हुए मानवीय एवं नैतिक मूल्यों के साम्राज्य की स्थापना करना था। डॉ० अम्बेडकर को भारत की अवनति एवं पराभव सर्वदा खटकता रहता था वह कमजोर भारत देखना नहीं चाहते थे। 26 नवम्बर 1949 को

भारतीय संविधान सभा में संविधान पारित होते समय, उन्होंने राष्ट्र को चेतावनी देते हुए, इस प्रकार अपने हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति की थी "26 जनवरी 1950 को हम राजनैतिक जीवन में समान होगें और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में असमान। हमें इस विषमता को जल्दी से जल्दी हटाना होगा। वरना इस विषमता के शिकार हुए लोग राजनैतिक प्रजातंत्र का यह ढ़ांचा उखाड़कर फेंक देंगे। डॉ० भीमराव अम्बेडकर का यह कथन स्पष्ट नहीं, बल्कि सुस्पष्ट है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि औपचारिक रुप से समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और सामाजिक न्याय भारतीय संविधान की प्रस्तावना में तो दृष्टिगोचर होते हैं और मौलिक अधिकारों में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रुप से परिलक्षित होते हैं लेकिन ययार्थ सामाजिक जीवन में ये कोसों दूर हैं। यदि समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और न्याय नागरिकों के सामाजिक जीवन में नहीं है, तो राजनैतिक जीवन में कोरे गाल बजाकर पंगु रह जाते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण और वास्तविकता यह है कि भारत की सामाजिक विषमताएं, अन्यायपूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक ढांचा भारत की राजनीति को पूर्णरुपेण नियंत्रित करके खोखला करने में लगे हुए हैं। इस बात को डॉ० भीमराव अम्बेडकर भलीभांति जानते थें कि जब तक भारत में सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और प्रशासनिक क्षेत्र में समानता न आए, तब तक राजनैतिक क्षेत्र में समानता, स्वतंतत्रा, न्याय और बन्धुत्व दिवास्वप्न की भांति असम्भव और शेख चिल्ली के ख्वाब की तरह निरर्थक एवं ढोंग मात्र होंगे। ययार्थ में डॉ० अम्बेडकर के धर्म परिवर्तन की नींव का पत्थर यही विचार था।

इस संदर्भ में यहां एक बात कहना अत्यन्त प्रासंगिक होगा कि जो लोग डॉ० भीमराव अम्बेडकर पर राजनैतिक कारणों से धर्मान्तरण का आक्षेप लगाते हैं, वे गर्व

के साथ अक्सर यह कहते हुए पाए जाते हैं, कि "पहले हम भारतीय हैं और बाद में हिन्दू अथवा मुसलमान।" यदि डॉ० भीमराव अम्बेडकर इसी प्रकार के संकुचित दृष्टिकोंण वाले व्यक्ति होते, तो वह भी इसी प्रकार की बात कहते पाए जाते। लेकिन उन्होंने इस प्रकार की संकुचित विचारधारा की कटु शब्दों में आलोचना एवं खंडन करते हुए कहा, "मुझे अच्छा नहीं लगता, जब लोग यह कहते हैं कि हम लोग पहले भारतीय हैं और बाद में हिन्दू अथवा मुसलमान। मुझे यह स्वीकार नहीं, धर्म, संस्कृति, भाषा आदि की प्रतिस्पर्धामयी निष्ठा के रहते हुए भारतीयता के प्रति निष्ठा कैसे रह सकती है ? मैं चाहता हूं कि लोग पहले भी भरतीय और अन्त तक भारतीय रहें, भारतीय के अलावा कुछ नहीं।"[1] यदि डॉ० साहब का धर्म परिवर्तन राजनीति से प्रेरित होता, तो शायद वह यह न कह पाते।

अक्सर देखा गया है कि धर्म परिवर्तन के पीछे कोई न कोई लालच अवश्य होता है। डॉ० भीमराव अम्बेडकर को निजाम हैदराबाद की ओर से करोड़ों रुपये देने का लालच दिया गया। सिख और विश्व के ईसाइयों ने भी अनेक प्रकार के प्रभोलन दिए थे, लेकिन डॉ० अम्बेडकर अपने लोगों को चांदी के टुकड़ो पर धर्म परिवर्तन नहीं कराना चाहते थे। वास्तव में यह इतिहास की एक अनूठी एवं विलक्षण घटना थी। इस्लाम धर्म के शासनकाल में शाहशाहों, बादशाहों और नवाबों के द्वारा इस्लाम कबूल करने पर अनेक प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सुख सुविधायें दी जाती रही है। उस युग में इस्लाम धर्म के कबूल करने के पीछे राजनैतिक कारण भी हुआ करते थे। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर सेन का कथन विशेष रुप से उल्लेखनीय है, "चचनामा के अनुसार सिंध के बौद्धों ने अपने ब्राह्मण शासकों के अधीन सभी प्रकार के अपमान तथा निरादर सहे और जब अरबों ने उनके देश पर आक्रमण किया, तो

---

1. नैमिशराय मोहनदास व अकेला ए0आर0, पूर्वोक्त पृ0 25

बौद्धों ने उनकी पूरे दिल से सहायता की। बाद में जब दाहिर का वध कर दिया गया और उस देश में मुस्लिम शासन की दृढ़ता से स्थापना हो गई, तो बौद्धों को यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि जहां तक उनके अधिकारों विशेषाधिकारों तथा सुविधाओं का सम्बन्ध है, अरब लोग उनकी परिस्थितियों में कोई परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं थे और यहां तक कि नई व्यवस्था में भी हिन्दुओं के साथ उत्तम व्यवहार किया गया था। इस कठिनाई से छुटकारा पाने का एक मात्र तरीका इस्लाम धर्म को स्वीकार करना था, क्योकि धर्म परिवर्तन करने वाले लोग शासक वर्ग के लिए आरक्षित, सब विशेषधिकार, विशेष सुविधाओं के हकदार हो जाते थे। अतः सिन्ध के बौद्धों को बड़ी संख्या में इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और वे मुसलमानों में शामिल हो गए।"[1] इसी प्रकार का कुछ मिलता–जुलता विचार डॉ० भीमराव अम्बेडकर के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उन्होंने कहा, "भारत के ब्राहम्णवादी शासकों ने बौद्व जनता पर अत्याचार किए। उनके इस अत्याचार और उत्पीड़न से बचने के लिए भारत के बौद्धों को बहुत बड़ी संख्या में इस्लाम को अंगीकार करना पडा और उन्होने बौद्व धर्म को सदा के लिए छोड़ दिया।"[2] इस्लाम ग्रहण करने के बाद उन्हें अनेक प्रकार के राजनैतिक और आर्थिक लाभ प्राप्त हुए और समाज में सम्मान और इज्जत भी मिलने लगी। वास्तव में उस युग में इस्लाम ग्रहण करने के पीछे अनेक कारण थे और उनमें से राजनैतिक कारण प्रमुख था।

जिस प्रकार मुसलमान शासकों ने दलितों की स्थिति के सुधार में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई और वे एक प्रकार से इस ओर से निष्क्रिय रहे, उसी प्रकार अंग्रेजो के शासन काल में अंग्रेजो ने दलितों और शोषितों की स्थिति के सुधार में कतई दिलचस्पी नहीं ली, और उनका जीवन उसी प्रकार का नारकीय एवं पाशविक

1. उद्धृत डॉ0 धर्मकीर्ति, पूर्वोक्त, पृ0स0 38–39

2. उद्धृत वही पृ0 33

रहा, जैसा हजारों साल पूर्व था। अपनी सामाजिक, अर्थिक, शैक्षिक और राजनैतिक स्थिति के सुधार के लिए लाखों दलितों और शोषितों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। ईसाई धर्म ग्रहण करने पर उनके बच्चों को विद्यालयों में प्रवेश मिलने लगा और इसलिए उनमें शिक्षा का प्रसार–प्रचार होने लगा। उन्हें सरकारी नौकरियां मिलने लगी और समाज में सम्मान जनक स्थान प्राप्त होने लगा। जो लोग उनकी छाया से डरते थे, अब वे उन्हें साहब कहने लगे और गांव में चारपाई के सिरहाने बैठाने लगे। इस प्रकार इन्हें इस्लाम कबूल करने की भांति ईसाई धर्म स्वीकार करने से राजनैतिक, शैक्षिक और आर्थिक लाभ प्राप्त होने लगा। ययार्थ में मुसलमानों और अंग्रेजों के शासनकाल में धर्म परिवर्तन करना राजनीति से प्रेरित था, क्योकिं राजनीति के चारों ओर अर्थ, सम्मान, शिक्षा, नौकरियां आदि सदैव चक्कर काटती रहती थी। यह बात ययार्थ में प्रकृति के नियमों की भांति अटल है।

लेकिन बौद्ध धर्म की स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत थी। जब डॉ० अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी, उस समय से लेकर अब तक भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। इसके अनुसार सरकार का कोई अपना धर्म नहीं होता और राज्य की ओर से किसी भी धर्म के प्रचार एवं प्रसार में रुचि नहीं ली जाती। इतना होने के उपरान्त भी भारत की सरकार के तीनों अंगों, अर्थात् विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में हिन्दुओं का बाहुल्य है और लगभग सभी हिन्दू अपने पूर्व संस्कारों से प्रेरित होकर बौद्धों को अपना जानी दुश्मन समझते थे और समझते है। इस प्रकार डॉ० अम्बेडकर और उनके अनुयायियों को बौद्ध होने पर किसी भी प्रकार का राजनैतिक, शैक्षिक, सामाजिक, और सरकारी सेवाओं में लाभ प्राप्त होने की बात नितांत मिथ्या एवं खरगोश के सींग की तरह असत् थी। हां इतना अवश्य था कि दलितों को जो

आरक्षण दिया जाता था, वह बौद्ध होने पर समाप्त कर दिया जाता था। फिर तो धर्म, परिवर्तन से लाभ की बात कहना, तो नितांत बेहूदगी की बात करना है। इसलिए डॉ० अम्बेडकर पर राजनैतिक अभिप्रायों से धर्म परिवर्तनं की बात का आक्षेप लगाना मिथ्या एवं निराधार है।

इस्लाम धर्म के अनुसार इस्लाम का प्रसार एवं प्रचार करना, कुफ्र और काफिरों को समाप्त करना महान पुण्य–कर्म माना जाता है। कुरान मजीद के सूरःअल अनफाक में पैगम्बर मुहम्मद कहते है 'हे ईमान लाने वालों! जब तुम एक सेना के रुप में काफिरों से भिड़ो तो उन (के मुकाबले) से पीठ न फेरो, जो कोई इस अवसर पर उनके (मुकाबले) से पीठ फेरेगा–सिवाय इसके कि युद्धरीति के रुप में ऐसा करे या दूसरी सेना मे जा मिलने के लिए तो (समझो) वह अल्लाह के गजब (प्रकोप) का भागी हुआ। उसका ठिकाना दोहजख है, और वह क्या ही पहुंचने की बुरी जगह है, इस्लाम के प्रचार–प्रसार में मुसलमान शाहंशाहो और बादशाहों की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण रही है, ये बादशाह निरंकुश और तानाशाह हुआ करते थे। चूंकि कुरान मजीद के अन्तर्गत इस्लाम का प्रचार और प्रसार करना महानतम पुण्य समझा जाता है, तो इस महान पुण्य का फल प्राप्त करने और जन्नत में जाने के लालच से इस कार्य के लिए राजनैतिक प्रलोभन ही प्रदान नहीं किए, बल्कि तलवार की नोंक पर भी इस्लाम का प्रचार–प्रसार किया। उस जमाने में राजनैतिक कारणों से इस्लाम के कबूल करने की बात कही भी जा सकती थी। मुसलमानों के शासन काल की भांति अंग्रेजी शासन काल में धर्म परिवर्तन को राजनैतिक अभिप्रायों से प्रेरित कहा जा सकता था। ईसाई होने पर स्कूलों और कालेजों में शिक्षा प्रदान की जाती थी। उन्हें विदेशों में उच्च शिक्षा के लिए भेजा जाता था। सरकारी नौकरियों,

व्यवस्था आदि में आरक्षण एवं विशेष सुविधाएं दी जाती थी। लोग अच्छे कपड़े पहनते थे और समाज में उन्हें सम्मान प्राप्त होता था। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों के शासन काल में भी ईसाई होने के राजनैतिक कारण हुआ करते थे।

जब डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था, उस समय बात इसके बिलकुल विपरीत थी। यहां पर लाभ के स्थान पर हानि थी। उदारहण के लिए भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए शिक्षा, सरकारी सेवाओं और लोकसभा में आरक्षण का प्रावधान है, लेकिन बौद्ध बनने पर इस आरक्षण से हाथ धोना पड़ता था। इस स्थिति से अनुमान लगा सकते हैं कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होने पर लाभ होता था अथवा हानि? लेकिन जब श्री वी. पी. सिंह प्रधानमंत्री थे, उस समय उनकी सरकार ने संविधान में संशोधन करके दलितों के द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर भी आरक्षण की सुविधा दे दी गई। भारतीय संविधान की प्रस्तावना व इसके अन्य प्रावधान भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि सरकार का कोई धर्म नहीं होगा। और न सरकार किसी धर्म के प्रचार–प्रसार में रुचि लेगी। ऐसी स्थिति में यह सोचना कि धर्म परिवर्तन से भीमराव अम्बेडकर अथवा उनके अनुयाइयों को कोई लाभ हुआ होगा, तो यह आधारहीन विचार है। इसके साथ ही साथ संविधान के नीति निर्देशक तत्वों और मौलिक अधिकारों में कोई ऐसा प्रावधान नहीं हैं कि शोषितों और दलितों के द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर उन्हें लोकसभा, विधान सभाओं और राज्य सभा और मंत्री, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के चुनावों में विशेष छूट या लाभ प्रदान किया जाएगा और न्याय पालिका तथा कार्यपालिका के उच्च्व पदों पर चयन के समय छूट दी जाएगी। जब कि इसके विपरीत बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर दलितों और

शोषितों का तरह–तरह से उत्पीड़ित उनका शोषण और उनके प्रति घोर अपमानजनक अन्याय किया जाता है। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हिन्दुओं का मनोविज्ञान इस तथ्य से भलीभांति परिचित है कि बौद्ध अहिंसावादी, करुणा, शील, मैत्री पर विश्वास और आस्था रखने वाले लोग हैं। वे लोग उनके अत्याचारों को पहले की तरह सहन करते चले जांएगे और उनके व्यवहार का प्रतिकार नहीं करेंगे। यदि वे लोग मुसलमानों की तरह प्रतिकार और बदले की भावना रखें, तो ये अत्याचार कभी भी नहीं हो सकते।

तीसरी बात यह है कि किसी भी राजनैतिक दल का विधान उठाकर देखे चाहे वह दल भाजपा की तरह दक्षिणपंथी हो अथवा साम्यवादियों की तरह वामपंथी अथवा कांग्रेस, बसपा, सपा आदि की तरह मध्यपंथी, किसी दल के विधान में यह व्यवस्था अथवा प्रावधान नहीं हैं कि बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर उन्हें उनके दल में विशेष पद या स्थान प्रदान किए जाएगे। जबकि इसके विपरीत बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका में हिन्दू उन्हें अपना शत्रु समझने लगे हैं। क्योकिं जब दलित और शोषित बौद्ध हो जाता है, तो उसमें स्वाभिमान और प्रज्ञा का उदय होता है। स्वाभिमान और प्रज्ञा के उदय होने पर वह समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और न्याय की मांग, उसका प्रचार–प्रचारक और अनुशीलन करने वाला हो जाता है। इस प्रकार वह हिन्दुओं के आमने–सामने खड़े होकर बात करने की जुर्रत रखने लगता है। हिन्दू इसे संस्कार वश कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता, क्योकि जो व्यक्ति एवं समाज हजारों सालों से उसका गुलाम था, शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार और अन्याय सहन करने में उफ् तक नहीं करता था और इसे भाग्य समझकर सहन कर लिया करता था, आज वह सामने खड़े होकर बात करता हैं।

इस कारण हिन्दू इन लोगों को अपना शत्रु समझने लगा है। ऐसी स्थिति में डॉ० अम्बेडकर पर यह आक्षेप लगाना कहां तक न्याय संगत एवं न्यायोचित नहीं होगा कि उन्होने बौद्ध धर्म को राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति अथवा राजनैतिक प्रेरकों के कारण ग्रहण किया था। इस प्रकार का आक्षेप पूर्ण रुपेण कुंठाओं और दूषित अभिप्रायों से प्रेरित, शरारत से भरा हुआ, पागलपन ही कहा जा सकता है।

डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने धर्म परिवर्तन के समय दिए गए अपने भाषण में कहा था, "इस सम्बन्ध में मेरे अपने विचार है। पशुओं और मनुष्यों में बड़ा अंतर है। पशुओं को रोज खाने के लिए चारा चाहिए। किन्तु मनुष्यों को अन्न चाहिए। पशुओं को चारे के सिवा कुछ और चीज की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु मनुष्य को शरीर के साथ–साथ मन भी है। इन दोनो बातों पर विचार करना चाहिए। मन का विकास होना जरुरी है। मन पवित्र और सुसंस्कृत बनना भी जरुरी है। जिन देशों में लोग यह समझते हैं कि खाने–पीने का सुसंस्कृत मन के साथ कोई संबंध नहीं हैं ऐसे देश और वहां की जनता से संबंध रखना हमारे लिए लाभदायक नहीं होगा। जनता से संबंध रखते हुए इस बात का भी विचार करना चाहिए कि जिस प्रकार शरीर निरोग होना चाहिए उसी प्रकार शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिए मन का सुसंस्कृत होना जरूरी है।"[1]

यथार्थ में उत्साह का मूल कारण सुसंस्कृत मन होता है। इस स्थिति में व्यक्ति अपना भौतिक और आध्यात्मिक विकास कर सकता है। डॉ० अम्बेडकर ने एक उदाहरण देकर कहा कि "स्कूलों में अगर मास्टर यह कहना शुरु कर दें कि यह कौन है? यह लड़का चमार, भंगी या महार आदि है? यह क्यों परीक्षा में प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण हुआ है? इसे प्रथम वर्ग किसलिए चाहिए? इसे चौथे वर्ग में उत्तीर्ण होना

---

1. उद्धृत धर्मकीर्ति, पूर्वोक्त पृ० 44

चाहिए। प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण होना तो केवल ब्राम्हणों का काम है। ऐसी स्थिति में उस अछूत छात्र को क्या उत्साह मिलेगा? उसकी तरक्की होगी? इसका सबसे बड़ा कारण हैं हिन्दू धर्म और उन्होनें आगे कहा, हिन्दू धर्म का तत्व ज्ञांन ऐसी असमानता और ऐसे अन्यायपूर्ण सिद्वान्तों पर आधारित है कि इस धर्म से किसी को उत्साह आज तक नहीं मिला। अगर यह धर्म हजारों वर्षो तक रहा, तो केवल इतना ही होगा कि पेट भरने के अलावा कुछ नहीं कर सकेगें। इससे आम अछूतों की भलाई कभी नहीं होगी।''[1]

इस प्रकार की स्थिति के बारे में डॉ० अम्बेडकर ने कहा ''हम जो लड़ रहे हैं वह सब इज्जत के लिए लड़ रहे है। मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है इज्जत से रहना। इसकी पूर्ण प्राप्ति तक जितना अधिक हम आगे जा सकते हैं, उतना ही आगे जाने की हमारी तीव्र इच्छा हो इसके लिए हमें जो भी त्याग करना पड़े वह थोड़ा है। हमें आज कुछ और बातों की भी आवश्यकता है। हम लोगों के बौद्व बन जाने पर सब कुछ पूरी होनी चाहिए। मैं सभी कुछ दिलवाऊंगा, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।''[2]

डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने धर्म परिवर्तन के समय नागपुर में कहा था, मैने हिन्दू धर्म को त्याग करने का आन्दोलन 1935 में शुरु किया था और बराबर इस आन्दोलन को चला रहा हूं। यवला—नासिक में इस आन्दोलन को चलाने के लिए 1935 में बड़ा जलसा किया था और उसमें एक प्रस्ताव द्वारा हमने निर्णय लिया था कि हम इस हिन्दू धर्म को छोडेगें। मैंने उसी समय प्रतिज्ञा की थी कि यद्यपि मैंने हिन्दू धर्म में जन्म अवश्य लिया है, तो भी हिन्दू धर्म में नहीं मरुंगा। ऐसी प्रतिज्ञा मैंने आज से 21 वर्ष पूर्व की थी और उसे आज पूरा कर दिखाया। इस धर्मान्तरण से मैं

---

1. उद्धृत वही, पृ0 44—45

2. उद्धृत वही, पृ0 45

बड़ा खुश हुआ हूँ और प्रफुल्लित हो उठा हूं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं नरक से छुटकारा पा गया हूँ। डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने कहा हिन्दू धर्म में रहकर किसी का उद्धार नहीं होगा।

बुद्ध के विचारों की ओर झुकाव

धर्मान्तरण की घोषणा के बाद डॉ० अम्बेडकर का सारा समय व्यापक अध्ययन चिन्तन, लेखन, दलितों के राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष तथा संगठन, दलित किसान, कामगार एकता, महिलाओ में जागृति आदि कामों में ही बीता है, और यही समय भारत के राजनीतिक जीवन में भी बहुत ही उथल–पुथल का रहा है। भारत के भावी राजनीतिक स्वरुप का यह निर्णायक काल था और इसीलिए देश के सांप्रदायिक, अलोकतांत्रिक संगठन और शक्तियां जिस तरह से संगठित और उग्र बनती जा रही थीं उसी प्रकार लोकतांत्रिक धर्म–निरपेक्ष संगठन और शक्तियां भी काफी सक्रिय बन गई थी। उनका हमेशा यही प्रयास और सोच रहा है कि देश में और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी लोकतात्रिक और धर्म निरपेक्ष शक्तियां ही मजबूत हों।

डॉ० अम्बेडकर द्वारा धर्मान्तर की घोषणा को व्यापक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का संदर्भ प्राप्त है। उनकी धर्मान्तर की संकल्पना यह कोई परंपरागत अर्थ में या रुढ़ अर्थ में धर्मान्तर की संकल्पना नहीं है। एक धर्म को नकार करके दूसरे धर्म को स्वीकार कर लेना इस तरह की निरर्थक संकल्पना उनके धर्मान्तर में नहीं थी। धर्मान्तर की घोषणा उनके व्यापक आंन्दोलन और चिंतन का परिणाम थी। इस ज्ञान–विज्ञान के युग में बीसवीं शताब्दी में जहां धर्म की संकल्पना अवैज्ञानिक, अशास्त्रीय और अप्रासंगिक साबित हो रही है। नई और ज्ञान–विज्ञान

पर आधारित संस्कृति तथा सांस्कृतिक जीवन मूल्य समाज में मूल धारण कर रहे है, ऐहिकवाद, धर्मनिरपेक्षता, अनीश्वरवाद, स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा, सामजवाद आदि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के मूल्य बन गये है इस युग में डॉ० अम्बेडकर जैसे पश्चिमी विद्याविभूषित, समानतावादी, स्वतंत्रावादी, लोकशाहीवादी, समाजवादी नेता जो हिन्दू धर्म, संस्कृति, साहित्य, समाज तथा सभ्यता की इतनी कठोर आलोचना करता है वह निश्चित रुप से ध्धर्मान्तर की संकल्पना को व्यापक परिवर्तन के संदर्भ में ही सोचना है। अन्यथा उन्हें 1956 तक इंतजार करने की गरज नहीं थी।

धर्मान्तर की घोषणा करके डॉ० अम्बेडकर हिन्दुओं से (हिन्दू धर्म तथा समाज) बदला लेना नहीं चाहते थे और न तो इस धर्मान्तर की घोषणा के पीछे किसी प्रकार के बदले की (रिव्हेंज) भावना थी। और उन्हें यदि यही करना होता तो वे मुस्लिम या ईसाई बनकर इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकते थे। लेकिन देश की समस्या का हल इसमें नहीं था। देश में उस समय अछूतों की संख्या छह–सात करोड़ थी, कुछ कम नहीं थी। और देश में किसी भी दलित–गैरदलित नेता पर जनता का इतना विश्वास नहीं था कि जनता उस नेता के कहने पर कुछ भी करने के लिए तैयार हो। जिन्होंने महात्मा गांधी का नेतृत्व मान्य किया था वह भी केवल अंग्रेजों के विरोध के लिए। लेकिन गांधी जी जिस ताकत के साथ उन लोगों को अंग्रेज विरोध में जन–आन्दोलन में ला सके उन्हीं लोगों को वे जात–पांत तथा अछूतपन को मिटाने के आन्दोलन में नही उतार सकते थे। वे न इस मामले में गांधी जी को प्रमाण मानते थे। उस आन्दोलन और नेतष्त्व का महत्व अंग्रेज विरोध तक ही था।

लेकिन यह बात भारत में केवल डॉ0 अम्बेडकर को प्राप्त थी कि उनका

नेतृत्व व्यापक परिवर्तन का था इसीलिए दलित समाज उनके कहने पर स्वतंत्रता के पहले हो या बाद में भी हर कुर्बानी करने के लिए तैयार था। इसी में उनके धर्मान्तर संकल्पना की व्यापकता है। बिना किसी भी प्रकार की सत्ता प्राप्ति के जनता का इतना बड़ा विश्वास भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया के इतिहास में अतुलनीय है।

बीसवीं शताब्दी की विशेषता है ज्ञान, विज्ञान, लोकतंत्र, समाजवाद और धर्म निरपेक्षता आदि दुनिया में समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों के आधार पर समाज हो या राष्ट्र अपनी गुलामी के विरोध में समानता और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए लड़ रहा है। गुलामी की जड़ें कमजोर होंती जा रही हैं और स्वतंत्रता, समानता की जड़े मूल पकड़ रही है। इस प्रासंगिकता में निकट भविष्य में भारत जिस स्वतंत्रता को हासिल करने वाला था और दलित समाज जिस स्वतंत्रता और समानता के लिए लड़ रहा था उस परिवर्तन को एक नया आकार, नया संदर्भ, नया अर्थ देने का युगकारी नेतृत्व डॉ० अम्बेडकर ने स्वीकार किया था।

डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तरण के संदर्भ में कई धर्मो का, उनके सिद्वान्तों का और धर्म संस्था की ऐतिहासिक भूमिका का अध्ययन किया था। इस संदर्भ में उन्होनें बुद्ध के विचारों का, बौद्व मत का अध्ययन किया। यह बात उनके व्याख्यानों और लेखों में जगह–जगह बौद्ध मत से संबन्धित उदाहरणों से पता चलती है। धर्मान्तरण की घोषणा के बाद बम्बई में 31 मई 1936 को धर्मान्तर के सवाल पर दलित समाज की राय जानने के लिए अन्तिम निर्णय के लिए जो दलित वर्ग परिषद हुई थी, उस व्याख्यान में उन्होने बौद्ध साहित्य का एक बहुत ही महत्वपूर्ण उदाहरण देकर समाप्त किया था। उदाहरण था, कि "सिद्वार्थ गौतम बुद्ध के जीवन से संबधित एक

महत्वपूर्ण घटना, जो गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पहले की है। बुद्ध के अनुगामी आनन्द जब उनके पास जाते है और कहते हैं कि आप परिनिर्वाण के पहले संघ को कुछ मार्गदर्शन करें। बुद्ध कहते है आनन्द संघ को मुझसे क्या चाहिए ? जो कुछ मुझे कहना था, वह मैनें, कह दिया है। जो कुछ मैंने जाना था, वह संघ के सामने रख दिया है। बुद्ध रहस्यवादी नहीं। अपने दीप आप बनो। स्वयं प्रकाशित बनो। अपने आप पर भरोसा रखो! स्वयं की शरण में जाओं। सत्य पर अटल रहो। बुद्व के इन वचनों की याद दिलाकर उन्होंने कहा कि मैं अन्त में यही कहना चाहता हूं कि आप अपना आधार बनो, अपनी बुद्धि की शरण में जाओ। बुद्ध का यह मार्ग दर्शन सबको प्रेरक सिद्ध होगा।

इसमें व्यक्ति को अपनी मानसिक गुलामी को तोड़ देने का और स्वयं प्रकाशमान बनने का संकेत है। इसमें एक तरह से बुद्ध के विचारों का अन्तिम सार है। यही मानवी जीवन का अन्तिम उद्‌देश्य है, जो मनुष्य के सभी बन्धनों को तोड़ देता है। और शेष रहता है केवल मनुष्य मात्र। बुद्ध के इस सन्देश ने उन्हें बहुत ही प्रभावित किया था।

धर्मान्तरण के सवाल पर डॉ० अम्बेडकर ने जितना अध्ययन और चिंतन तथा लेखन किया था उतना शायद किसी ने भी नहीं किया। धर्मान्तरण की घोषणा के बाद बौद्धमत की ओर उनका जितना लगाव और झुकाव दिखाई देता है उतना उसके पहले नही। धर्मान्तर करने से अछूतों को समानता के अधिकार तो मिलने वाले ही थे, लेकिन उनका अछूतपन भी समाप्त होने वाला था। चंकि जब तक कोई भी व्यक्ति हिन्दू धर्म का अंग बनकर रहता है, तब तक हिन्दू धर्म के श्रेयनिः श्रय के, पाप पुण्य के और छूत–छात के यह नियम उसमे लागू होते है। किन्तु हिन्दू धर्म से अपना

संबध विच्छेद करके दूसरे धर्म को स्वीकार करने से, उसे मानव –धर्म के नियम लागू हो जाते है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ही डॉ० अम्बेडकर ने धर्मान्तर के विचारों को बढावा दिया था। धर्मान्तर की बात विचार करते हुए ही उन्होंने मुस्लिम और ईसाई धर्म का भी विचार किया था। किन्तु उसमें भी मुस्लिम समाज जैसे सबल समाज का समर्थन प्राप्त होने से हिन्दु समाज के दुराग्रह का सही ढंग से मुकाबला किया जा सकता है यह भी उन्हें लगता था।

उन्हें यह भी लगता था कि प्रार्थना समाजिस्ट या आर्य समा–जिस्ट या बौद्ध होकर अछूतपन समाप्त करने का सवाल हल होने वाला नहीं है। क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से अछूत हिन्दू ही समझे जायेगे। और उनके सिर पर अछूतपन का बोझा बना ही रहेगा। इस प्रकार प्रारम्भ में उनकी भूमिका थी लेकिन धर्मान्तरण की घोषणा के बाद उन्होंने लाहौर (पंजाब) के जात–पात तोड़क मण्डल के वार्षिक अधिवेशन के लिए जो अध्यक्षीय भाषण लिखा था उसमें यह पता चलता है कि उनकी इस भूमिका में बहुत ही परिवर्तन हो गया था। और बाद में उनकी सारी गतिविधियां बौद्ध मत को स्वीकार करने की ओर ही थी।

द्विराष्ट्रवाद की भावना के मूल

द्विराष्ट्रवाद के मूल ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी आन्दोलन के निर्माण के साथ–साथ ही बो दिये गये थे, यह कहना अनैतिहासिक नहीं होगा। क्योंकि हिन्दू पुनरुत्थानवादी आन्दोलन ने ही इस देश में इस तरह से हिन्दुत्व के प्रति, हिन्दू सनातनत्व के प्रति, हिन्दू इतिहास और पौराणिकता के प्रति ऐसी भावना जागष्त करने का प्रयत्न किया था, कि इस देश का इतिहास या इस देश का मूल सांस्कृतिक प्रवाह एक मात्र

हिन्दुत्व ही है और सभी हिन्दुत्व के तहत ही है। इसके कारण अहिन्दुओं में हमेशा ही अलगाव की भावना, दूसरे दर्जे के नागरिक होने की भावना बलवती होती गई।

लेकिन जब तक ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त और स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्षण नहीं दिखायी दे रहे थे तब तक सभी हिन्दू मुस्लिम आदि धर्म सम्प्रदायों के लोग सब एक साथ मिलकर स्वराज्य प्राप्ति के लिए ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन में और उससे संबधित सभी संगठनों में काम करते हुये दिखाई देते है। 1937 के पहले तक हिन्दू और मुसलिम एक ही राजनीतिक उद्‌देश्यों के आन्दोलन में सम्मिलित थे। लेकिन उसके बाद की घटनाओं से यह पता चलता है अब हिन्दू और मुसलिमों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हित सम्बन्ध एक से नहीं रहे थे। 1935 के कानून के अनुसार 1937 में देश में पहली बार आम चुनाव हुए थे। और राज्य सरकारों को स्वशासन का अधिकार दिया गया था। इसका सीधा मतलब यह था। कि अब निकट भविष्य में देश को स्वराज्य शासन का सार्वभौम अधिकार प्राप्त होनेवाला था। उस समय देश में और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो राजनीतिक घटनाएं घट रही थीं उनसें यही संकेत प्राप्त होता है।

1937 के पूर्व अपनी धार्मिक श्रद्धाओं का उतना ख्याल न रखते हुए उस समय मुसलिम और गैर मुसलिम लोग कई संगठनों में काम करते थे। कामगार संगठन, शेतकारी संघ, किसान सभा, जमीन मालिक संघ, चैबर्स आफ कामर्स आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। खास मुसलिमो के संगठनों में प्रजा पार्टी अहरार परिषद, जमियत–उल–उलेमा, कांग्रेस नेशनलिस्ट मुस्लिम, शिया कान्सरंस आदि संगठन थे। लेकिन यह संगठन उस समय की राजनीतिक स्थितियों को देखते हुए बहुत प्रभावी नहीं थे। 1937–39 के दौरान देश के कई प्रान्तों में कांग्रेस के हाथ में

राजनीतिक सत्ता आ गई । और इसका खुला परिणाम द्विराष्ट्रवाद में हुआ। कांग्रेस में भले ही सभी जाति, धर्म–संप्रदायों के लोग थे लेकिन कांग्रेस का राजनीतिक आदर्श अब भी अस्पष्ट ही था और कांग्रेस पर हिन्दुत्ववादी, अभिजनवादी और समाज के ऊँचे वर्ण तथा वर्गो के लोगों का प्रभाव था। इसलिए हिन्दू और मुस्लिमों में सत्ता की स्पर्धा का होना एकदम स्वाभाविक था।

जिस प्रकार ब्रिट्रिश सत्ता के विरोध में हिन्दू पुनरुज्जीवनवाद की नींव पड़ी उसी प्रकार मुस्लिमों को भी अपने 'सांस्कृतिक, हित संबंधों के रक्षण की गरज महसूस हुई और मुसलमानों में 'सांस्कृतिक' हित सम्बन्ध के रक्षण पर लीग ने पूरा बल दिया था। जिन्ना ने कांग्रेस नेताओं के सामने 1938 में चौदह मांगे रखी थी। जिसमें मुस्लिम सांस्कृतिक पुनरुज्जीवनवाद स्पष्ट रुप से दिखाई देता है। इस तरह देश में धर्म के आधार पर द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त मजबूत हो रहा था और उस सिद्धान्त को हिन्दू और मुसलिम सनातनी दोनों मिलकर सींच रहे थे।

लेकिन डॉ० अम्बेडकर देश की राजनीतिक स्थिति में न मुसलिमों के करीब और समर्थक थे और न वे हिन्दुओं के करीब और समर्थक थे। उन्होने कभी भी धर्म आधार पर 'राष्ट्रवाद' का समर्थन किया ही नही। उन्होंने 1938 को सोलापुर में संसदीय लोकतत्रं पर अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते हुए कहा था कि मैं इस बात की कि सभी परिस्थितियों में और विशेषकर देश की वर्तमान हालत में लोकतंत्र ही अपनाएं यह आदर्श है, ...लोकतंत्र ही एक उचित प्रणाली है।[1] एक तरफ उन्होंने देश की मौजूदा परिस्थिति में लोकतंत्र शासन प्रणाली का समर्थन किया तो दूसरी ओर मनमाड (महाराष्ट्र) में दलित वर्ग रेल मजदूर कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि मेरे ख्याल से इस देश में मजदूर वर्ग के दो शत्रु हैं और वह हैं एक

---

1. (उद्धृत) विमलकीर्ति, पूर्वोक्त पृ० 87

ब्राह्मणवाद और दूसरा पूंजीवाद। ब्राह्मण शब्द की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा था कि, समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे को न मानने वालों को मैं कामगारों का शत्रु मानता हूं। ब्राह्मणवाद एक ऐसी व्याधि है कि जिससे ब्राह्मणेतर भी ग्रस्त थे।[1]

डॉ० अम्बेडकर धर्म के आधार पर राष्ट्रवाद की संकल्पना को अस्वीकार करते हैं इसीलिए 1937 के बाद जिस द्विराष्ट्रवाद की संकल्पना ने हिन्दू और मुसलिमों को दो खेमों में बांट दिया था उससे उन्होंने एकदम अलग ही अपना आन्दोलन सोच रखा था। उनके द्वारा धर्मातर की घोषणा का स्पष्ट मतलब ही यह था कि धर्म के आधार पर राष्ट्र की संकल्पना का विरोध करना। उनका यह स्पष्ट मत था कि न तो हिन्दू धर्म तथा संस्कृति निकट भविष्य में भारत को प्राप्त होनेवाली लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली के लिए अनुकूल है और न ही इस्लाम या इस्लामी संस्कषति लोकतंत्र के लिए अनुकूल है। दोनों धर्म तथा दोनों संस्कषतियां लोकतंत्र विरोधी हैं। इस संदर्भ में उनकी धर्मान्तर की घोषणा अपने आप में एक महत्वपूर्ण चीज है। इस लिए वे ध ार्म निरपेक्षता के आधार पर अपने संगठनों को मजबूत कर रहे थे। और इसी दिशा में उनकी सोच भी थी। वे यह भी मानते थे कि हिन्दू राष्ट्रवाद या मुसलिम राष्ट्रवाद में इस देश की जात–पात तथा अछूतपन की समस्या तथा कामगार सर्वहारा वर्ग की किसी भी समस्या का कोई हल नहीं है। दलित सर्वहारा समाज की समस्या केवल धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद में हल हो सकती है। भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी यह भूमिका और भी अधिक रुप से स्पष्ट होती है।

देश में 1937 के बाद जो राजनीतिक संघर्ष–द्विराष्ट्रवाद खड़ा हुआ उस संदर्भ में डॉ० अम्बेडकर ,द्वारा धर्मान्तर की घोषणा करना इसमें बहुत ही व्यापक संदर्भ है। और उसी व्यापक संदर्भ में इस धर्मान्तर की घोषणा की ओर देखना

---

2. (उद्धृत) वही, पृ० 87

चाहिए। यदि डॉ० अम्बेडकर भी इसी द्विराष्ट्रवाद के राजनीतिक संघर्ष में हिन्दू सनातनी या मुसलिम सनातनियों में किसी एक के पक्ष में खड़े हो जाते तो शायद देश में बाद में भारतीय संविधान का जो रुप बना और देश में धर्म निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का रूप बना वह न बन पाता। और जात–पात तथा अछूतपन की समस्याएं ज्यों की त्यों रह जाती, यह कहना गलत न होगा।

****

अध्याय – 7

नव बौद्ध आन्दोलन डॉ. अम्बेडकर के राष्ट्रवाद का आधार

- नव बौद्ध आन्दोलन की तैयारी
- बौद्ध मत- एक स्वतन्त्र दर्शन
- भारत में बौद्ध धर्म का संक्षिप्त इतिहास
- बौद्ध धम्म के प्रचार-प्रसार में डॉ. अम्बेडकर का योगदान
- धर्म परिवर्तन के परिणाम
- बौद्ध धम्म क्रांति का परिणाम
- राष्ट्रवाद का आधार-स्वतन्त्रता, समानता और संगठन
- बौद्ध धर्म की प्रतिज्ञायें
- राष्ट्र के प्रति समर्पित डॉ. अम्बेडकर

नव बौद्ध आन्दोलन डॉ0 अम्बेडकर के राष्ट्रवाद का आधार

डॉ० अम्बेडकर का सम्पूर्ण जीवन एक आन्दोलन था। आन्दोलन, संघर्ष और डॉ० अम्बेडकर इन नामों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। उनका यह सम्पूर्ण आन्दोलन मुख्य रूप से समाजवादी समाज के निर्माण के आदर्शो की प्रेरणा देने वाला एक सामाजिक आन्दोलन है। डॉ० अम्बेडकर का आन्दोलन, धम्म क्रांति, नव बौद्ध आन्दोलन निश्चित रूप से हिन्दू धर्म का तथा हिन्दू समाज व्यवस्था के विरूद्ध में एक महा विद्रोह था। उनके इस विद्रोह की प्रेरणा निश्चित रूप से सामाजिक समानता की है। यह प्रेरणा निश्चित रूप से इहवादी या भौतिकवादी है। इसमें कोई भी चैतन्यवादी, धर्मवादी या आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं है। उनका यह आन्दोलन दलित समाज की मोक्ष प्राप्ति के लिए, स्वर्ग प्राप्ति के लिए या ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिए नहीं था। यह आन्दोलन तो दलित समाज के मानवीय अधि ाकार, जो हिन्दू धर्म तथा समाज के व्यवस्था ने सदियों से नकार दिये थे, इनके लिए था। इस आन्दोलन की प्रेरणा के मूल निश्चित रूप से भौतिकवाद मे हैं, हिन्दू समाज के मूल स्वरूप बदलने मे है। इसके लिए डॉ० अम्बेडकर ने लोकतन्त्र और बौद्ध धम्म का समर्थन किया है। बुद्ध की विचार धारा को स्वीकार करने में, और सम्पूर्ण दलित समाज को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण देशवासियों को बुद्ध के धम्म को स्वीकार करने के लिए आहवान करने में यही उद्देश्य था कि लोकतन्त्रात्मक मूल्यों, आदर्शो की स्थापना हो तथा देश में समाजवादी समाज रचना के निर्माण के लिए समाज में अनुकूल वातावरण तैयार हो क्योंकि सनातनी हिन्दू धर्म, आदर्श, मूल किसी भी रूप

में लोकतन्त्र और समाजवादी समाज की रचना के लिए अनुकूल नहीं हैं।

लोकतन्त्र और समाजवादी समाज रचना की दृष्टि से डॉ० अम्बेडकर के धम्म क्रांति को तथा नव बौद्ध आन्दोलन को बहुत ही महत्व प्राप्त है। यह एक धर्म का त्याग करके या उसे अस्वीकार करके, दूसरे धर्म को स्वीकार करने की बात मात्र नहीं है। अगर यही होता तो एक समय में हिन्दू धर्म के कुछ तत्वों का समर्थन करने वाले डॉ० अम्बेडकर, हिन्दू धर्म में सुधार होने की सम्भावना रखने वाले डॉ० अम्बेडकर 1935 में धर्मान्तर की घोषणा क्यों करते, धर्मान्तर आन्दोलन क्यो चलाते? भारतीय संविधान निर्माण के साथ–साथ ही बुद्ध के दर्शन का, उनके सामाजिक क्रांति के सामाजिक चिन्तन का, बुद्ध के क्रांतिकारी कार्य का मूल्यांकन क्यो करते? वे भारतीय संविधान के निर्माण के साथ–साथ 'द बुद्ध एण्ड हिज धम्मा' जैसे ग्रन्थ का निर्माण का प्रकल्प क्यों हाथ में लेते? वे हिन्दू कोड बिल को भारतीय संसद में पास कराने की बात क्यों करते? इन तमाम संदर्भो को निश्चित रूप से सामाजिक क्रांति का सन्दर्भ प्राप्त है। 14 अक्टूबर 1956 की धम्म क्रांति केवल हिन्दू धर्म की जगह दूसरा धर्म स्वीकार करने की बात नहीं है।

डॉ0 अम्बेडकर ने बुद्ध मत को स्वीकार किया उन्होने इसके लिए दलित समाज में व्यापक जागृति पैदा की। उसी प्रकार उन्होंने अधिकृत एवं घोषित रूप से बुद्ध धर्म को स्वीकार करने के पहले ही बुद्ध के विचारों का सम्पूर्ण रूप में दिग्दर्शन करने वाले 'द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा' ग्रन्थ की रचना का कार्य पूरा कर लिया था।[1] इस प्रकार व्यापक जन आधार तैयार होने के बाद और धर्म क्रांति का वैचारिक तथा सैद्धान्तिक हथियार 'द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा' ग्रन्थ के निर्माण के बाद ही डॉ० अम्बेडकर ने बुद्ध मत को स्वीकार करने की घोषणा की।

---

1. मेश्राम, डॉ.एल.जी, पूर्वोक्त, पृष्ठ–267

नव बौद्ध आन्दोलन की तैयारीः

एक तरह से धर्मान्तर की घोषणा के बाद ही बौद्धमत की ओर डॉ० अम्बेडकर का झुकाव विशेष रूप से दिखाई देता है। यह बात उनके लेखों, व्याख्यानों, ग्रन्थों और उनके शैक्षणिक क्षेत्र में कार्य की दिशा एवं आदर्शो से स्पष्ट होती है। उनके द्वारा स्वीकार किये गये नाम जैसे—राजगृह, सिद्वार्थ मिलिन्द, नागसेन आदि बौद्ध संस्कृति की प्रकाशमान परम्परा के प्रतीक थे।[1] जिन्हे डॉ० अम्बेडकर ने स्वीकार किया था।

डॉ० अम्बेडकर ने बौद्धमत स्वीकार करने का अघोषित निर्णय करने के बाद उन्हे उसके प्रचार कार्य के लिए संस्था की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिए उन्होने 1950 बम्बई में बौद्ध जनसभा की स्थापना की। और 1950 में ही डॉ० अम्बेडकर के निर्देशन में भारत वर्ष में जगह—जगह पर बौद्ध संगठन, बौद्ध संस्थाये स्थापित की गईं।[2] डॉ० अम्बेडकर द्वारा धम्म क्रांति की अधिकृत घोषणा होने के पहले ही एक संस्कृति क्रांति के आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया था। कुछ पत्र पत्रिकायें भी प्रकाशित हो रहीं थीं। डॉ० अम्बेडकर 14 अक्टूबर 1956 को जो धम्म क्रांति की उसकी विशेष प्रक्रिया 1950 से प्रारम्भ हो गयी थी।

1950 में ही डॉ० अम्बेडकर विशेष रूप से बौद्धमत के अध्ययन और प्रचार—प्रसार कार्य मे जुट गये थे। सिंहल के बौद्ध विश्व सम्मेलन में भी डॉ० अम्बेडकर ने लोकतंत्र और बुद्ध के विचारों की आवश्यकता के महत्व का प्रतिपादन किया।[3] डॉ० अम्बेडकर बौद्धमत की ओर मात्र इसके अहिंसा वादी दर्शन के कारण आकर्षित नहीं हुए बल्कि इसीलिए की बुद्ध ने सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक और

1. मेश्राम, एल० जी०, पूर्वोक्त, पृष्ठ 267
2. वही, पृष्ठ 267—68
3. डॉ० बी०आर० अम्बेडकर, भाषण—26 मई से 6 जून 1950, विश्व बौद्ध सम्मेलन, सिंघल धर्म दूत—सारनाथ, जुलाई 1950, अंक 4

राजनीतिक स्वतंत्रता का भी समर्थन किया था। बुद्ध सही में एक सच्चे शिक्षक थे। वे बुद्धिज्म की ओर इसलिए भी आकर्षित हुए कि बुद्ध मनुष्य–मनुष्य में किसी भी प्रकार का भेद न मानने की शिक्षा देते है। इसमें जन्म के आधार पर ऊँच–नीच का भेद न मानने की शिक्षा है। इसमें स्त्री या पुरुषों में समानता मानने की शिक्षा है। बुद्ध जाति हीन समाज का समर्थन करते हैं आदि।[1] इस तरह डॉ० अम्बेडकर जगह–जगह पर बुद्धिज्म, समानता और स्वतंत्रता के सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं। डॉ० अम्बेडकर सातत्य स इस नव बौद्ध आन्दोलन में जुट गये थे। और लोगों मे भी बहुत बड़ी मात्रा में जागृति पैदा हो गई थी, लोगों का भी झुकाव बुद्धिज्म की ओर बढ़ता जा रहा था।

बौद्ध मत को परम्परागत संकल्पना के अर्थ में ही डॉ० अम्बेडकर समझते थे तो वे बुद्धिज्म को स्वीकार करने के लिए 1935 की धर्मान्तर की घोषणा के बाद 1956 तक लगभग 20 साल की अवधि तक रुकते नहीं और जब वे इतने समय तक इस बात पर गम्भीर रूप से सोच सकते हैं इसका मतलब ही यह है कि बुद्धिज्म के संबंध में उनकी मान्यतायें परम्परागत या सनातनी अर्थ में धर्म संकल्पना से एकदम निराली हैं। उन्हे इस देश में जिस प्रकार की समाज व्यवस्था का निर्माण करना था और हिन्दू सनातनी विषमता पर आधारित समाज व्यवस्था के विरोध में विद्रोह के लिए लोगों को तैयार करना था, इसलिए वे सबसे पहले लोगों के दिलो दिमाग में क्रांति करना चाहते थे डॉ० अम्बेडकर ने इतने लम्बे समय में लोगो की चेतना बदलने का उनकी समझ में परिवर्तन लाने का कार्य किया इसलिए उनका नवबौद्ध आन्दोलन आम आदमी का आन्दोलन, उनकी मुक्ति का आन्दोलन और देश में लोकतंत्र को मजबूत बनाने तथा देश में समाजवादी समाज रचना के निर्माण के लिये

---

1. डॉ0 अम्बेडकर, भाषण, बम्बई 27 मई 1953,

बुनियादी आन्दोलन बन सका।

बौद्धमत- एक स्वतन्त्र दर्शन

हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्म, दर्शन तथा साहित्य और सामाजिक शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद और वर्तमान युग के सामाजिक, राजनीतिक मूल्य लोकतंत्र और समाजवादी शासन प्रणाली के सम्बंध में सारी दुनिया के व्यापक अनुभवों का अध्ययन करने बाद हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में डॉ० अम्बेडकर की प्रारम्भ मे जो मान्यतायें थी वह सभी बदल गयी। उन्होंने 1924 में एक परिषद में कहा था कि "किसी भी धर्म की ओर तात्विक और व्यवहारिक दोनो दृष्टि से देखना चाहिए। तात्विक दृष्टि से हिन्दू धर्म किसी भी धर्म से पराजित नहीं होगा, यह मेरा मत है। बल्कि सारे धर्मों में श्रेष्ठ माना जायेगा। इस हिन्दू धर्म में "सर्व भूति एक आत्मा" मूल तत्व है लेकिन हिन्दू धर्म का व्याहारिक स्वरूप एकदम विपरीत है।"[1] लेकिन हिन्दू धर्म तथा दर्शन के तात्विक रूप का परिणाम ही उसका व्यवहारिक स्वरूप है। इस बात को समझने में डॉ० अम्बेडकर को देर नहीं लगी धर्मान्तर की घोषणा में यह बात स्पष्ट को गई।

डॉ० अम्बेडकर ने 1950 में नई दिल्ली सभा में बुद्ध जयन्ती के अवसर पर बोलते हुए कहा था "हिन्दू धर्म संस्कृति में बहुत खोज करके देखा लेकिन उसमें कुछ विशेष हाथ नहीं लगा। केवल बौद्ध धर्म से ही रोशनी दिखाई देती है और बौद्ध धर्म के कारण ही भारत देश के महान होने की बात सारी दुनिया में कह सकते हैं।[2] डॉ० अम्बेडकर ने धर्म की परिभाषा की है, उन्होंने समाज की धारणा के लिए धर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन भी किया है। लेकिन वे धर्म शब्द को सनातनी अर्थ में

1. (उद्धृत मेश्राम, एल० जी०, पूर्वोक्त, पृ० 189
2. वही, पृ० 189

नहीं बल्कि नैतिकता, सदाचार, आदि अर्थो में प्रयुक्त करते है। डॉ० अम्बेडकर का सीधा सवाल यह है कि अछूतों के कानों में गर्म शीशा डालने की आज्ञा देने वाला हिन्दू धर्म क्या इस संज्ञा के लायक है।[1] मतलब यह है वह हिन्दू धर्म को, धर्म की संज्ञा में ही मानने को तैयार नहीं है।

हिन्दू धर्म की बुनियाद विषमता का समर्थन है। जन्म पर आधारित जात–पॉत उसका परिणाम है। बौद्ध दर्शन की बुनियाद समानता का समर्थन है और जाति हित ऊँच–नीचताहीन समानतावादी समाज उसका परिणाम है। व्यावहारिक स्तर पर भी बौद्ध मत और हिन्दू धर्म में कोई समान धर्म नहीं है, उसी प्रकार तात्विक दर्शन के क्षेत्र मे भी बौद्ध मत एक स्वतंत्र दर्शन है और उस दर्शन का विकास भी स्वतंत्र रूप से ही हुआ है। कुछ लोग बौद्ध मत या दर्शन में, और हिन्दू या दर्शन में कोई फर्क नहीं मानते, बल्कि बौद्ध मत को वैदिक धर्म या ब्राह्मण धर्म या हिन्दू धर्म की ही एक शाखा मानते हैं। लेकिन डॉ० अम्बेडकर उनके मत से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि "हिन्दू धर्म के कारण भारत का सामाजिक अधःपतन हुआ है। चातुर्वर्ण्य, मूर्ति–पूजा और अध्यात्मिक तत्व इस सामाजिक विषमता पर हिन्दू धर्म आधारित हैं लोगों के सामाजिक अधःपतन और राष्ट्र के पतन का कारण ब्राह्मणशाही है। उसमें और आज के हिन्दू धर्म में कोई फर्क नहीं है।[2]

बौद्ध मत का वर्णाश्रम धर्म पर विश्वास नहीं हैं। बौद्धमत समानता को मानता है। यहां ऊँच–नीच की भावना नहीं है। बुद्ध ने ब्राह्मण धर्म का खण्डन करते हुए पूछा है कि बौद्ध धर्म में विशेष क्या है? उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा इन दो बातों के अलावा और क्या है? बुद्ध ने दोनो बातों को अमान्य किया है। बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मुझे ईश्वर मान्य नहीं है। इसमें बुद्ध समानता, स्वतंत्रता, सुख और

1. वही, (उद्धृत) पृ0 189
2. डॉ0 अम्बेडकर, भाषण, बम्बई, 27–05–1953 (भाषण खण्ड 7)

शांति का निर्माण इसी समाज में करना चाहते थे। बुद्ध एक दार्शनिक थे। बुद्ध के लिए वेद प्रमाण नहीं थे।[1] बौद्धमत में मोक्ष –स्वर्ग जैसी काल्पनिक कल्पनाओं का कोई महत्व नहीं है। बल्कि मानवीय जीवन को सुखी बनाना हो तो मनुष्य को शुद्ध आचरण, अहिंसा, समानता, और भाईचारा इन बातों को ही स्वीकार करना चाहिए, इसके बगैर दूसरा रास्ता नहीं। यही बातें बौद्धमत के तत्व के रूप में प्रसिद्ध हैं इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से और व्यवहारिक दृष्टि से बुद्ध का दर्शन पूरी तरह से ब्राह्मण या, वैदिक और उपनिषदों के दर्शन से भिन्न है। बौद्ध दर्शन एक स्वतंत्र दर्शन है। बौद्ध दर्शन की अपनी स्वतंत्र चिन्तन प्रणाली है। बौद्धमत की अपनी स्वतंत्र मत और मान्यतायें है। डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दुत्ववादी तत्व चिन्तकों के इस मत का जबर्दस्त खण्डन किया है कि बौद्ध मत स्वतंत्र दर्शन नहीं बल्कि ब्राह्मण दर्शन की ही एक शाखा है। बुद्ध के दर्शन के इतिहास के संबंध उनका चिंतन था। और भारत में सामाजिक क्रांति तथा सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए मूलाधार के रूप में बौद्धमत ही महत्वपूर्ण है।

भारत में बौद्ध धर्म का संक्षिप्त इतिहास

भगवान बुद्ध का धम्म भारत में जन्मा। विशेष किस्म की परिस्थितियों में उसका विकास हुआ। सिद्धार्थ गौतम अपने दुःख का समाधान ढूंढ़ने निकले थे, परन्तु उन्होने दुनिया के दुःख दूर करने का रास्ता ढूंढ़ लिया। फिर उस ज्ञान और रास्ते को अपने तक सीमित नहीं रखा बल्कि 45 वर्षो तक देश के हर भाग में जाकर उसका प्रचार–प्रसार किया। उनके व्यक्तित्व तथा उनके ज्ञान प्रचार के तरीके में कितनी शाक्ति रही होगी कि राजाओं ने अपने ताज और सिंहासन, ब्राह्मणों ने

1. वही,

अपना ऊँचा स्थान, धनवानों ने धन और ऐशो आराम की जिन्दगी को छोड़, तथा कारीगरों, दस्तकारों तथा उद्योगों में लगे लोगों ने उनका अनुयाइयी बनना तथा उनका मार्ग अपनाना स्वीकार किया।[1]

इस नये धर्म से उन लोगो को हानि पहुंची होगी जो लोगे के विश्वास अज्ञानता और भोलेपन का फायदा उठाकर पुरोहिताई, अन्धविश्वास और अज्ञानता को बढ़ावा देकर पैसा कमाते थे। हवन, यज्ञ, पूजा–पाठ मंत्र उच्चारण पशुओं की बलि आदि से देवताओं को प्रसन्न करने का दावा करते थे। लोगो की जागृति और पुरोहित रहित धर्म से उन्हे नुकसान होना अनिवार्य था इसलिए उन्होनें बौद्ध धर्म का कड़ा विरोध किया। बहुत से लोग भगवान बुद्ध के अनुयायी बन गये तो उनको संगठित रखने तथा सही रास्ते पर चलाये रखने के लिए नियम बनाये गये और संघ आस्तित्व में आया।[2]

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ ने धर्म के प्रचार–प्रसार काम अपने हाथ में लिया। संघ के ऊपर एक व्यक्ति का प्रभाव और नेतृत्व के अभाव में समस्यायें पैदा हुई। संघ ने समस्याओं के लिये सम्मेलन करके उनका समाधान ढूंढ़ा। भगवान बुद्ध का धम्म पूरब पश्चिम दोनो दिशाओं में फैला। भगवान बुद्ध का धम्म दुनिया का पहला संगठित धर्म है, जो किसी ईश्वर, इष्टदेवता और देवी शक्ति में विश्वास नही रखता या पूजा उपासना आदि पर निर्भर नहीं था। उसकी जड़ें यर्थाथ घरती में थी और उसका लक्ष्य जनसाधारण के दुःख का अंत था। सहनशीलता उसकी विशेषता थी। भगवान बुद्ध का मानना था कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। हर समय कुछ मर रहा है कुछ नया पैदा हो रहा है। यह बात धम्म पर लागू होती है। जिन लोगो ने बौद्ध धर्म को अपनाया, वे लोग भिक्षु बनकर उनके धम्म का प्रचार–प्रसार करते

1. भगवान दास, भारत में बौद्ध धम्म का पुनर्जागरण एवं समस्यायें, दलित टूडें प्रकाशन, लखनऊ 1999
2. वही, पृ0– 1

रहे हैं। उनके परिनिर्वाण के लगभग तीन सौ वर्ष के बाद सम्राट अशोक ने कलिंग की लड़ाई में विजय तो पायी परन्तु युद्ध के खून खराबे की तबाही से दुःखी होकर उसने फैसला किया कि तलवार के जोर से नये इलाकों को विजय करने के बजाय दिलों को जीताना ज्यादा अच्छा है। वे बुद्ध धर्म की शरण में आये और भगवान बुद्ध के धम्म की शिक्षाओं का प्रचार–प्रसार करने में अपना बाकी जीवन लगा दिया। शिला, स्तम्भें, चट्टानों आदि पर धम्म के नियम खुदवाये, व्यक्ति परिवार तथा समाज के उत्थान के लिए नियम बनाये। सम्राट अशोक के बाद यूनानी मूल के मिलिंद, हर्षवर्धन, कनिष्क तथा अन्य कई राजाओं ने बुद्ध धर्म को फैलाने का कार्य किया।[1]

कुछ विद्वान, बुद्धिमान ब्राह्मणों ने बौद्ध धम्म के फैलाने तथा प्रचार प्रसार करने में प्रसंशनीय भूमिका निभायी है। परन्तु पुरोहिताई में लगे ब्राह्मणो ने जिन्हे भगवान बुद्ध की शिक्षा से हानि पहुच सकती थी उन्होने बुद्ध के धम्म का विरोध किया। उन्होने बनावटी ढंग से क्षत्रिय, राजपूत राजाओं की सहायता से बौद्ध धम्म को नष्ट करने की कोशिश की।[2] भगवान बुद्ध के जीवन काल के समय और बाद में जो लोग उनके विषय बने उनमें मैद्रगल्यायन, महाकश्यप, रेवत, योगनिता, नागसेन, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, सारिपुत्र आदि ब्राह्मण थे। थेर गाथा में कई ब्राह्मणो का जिक्र आता है बुद्धघोष, अश्वघोष आदि लेखक और विचारक भी ब्राह्मण थे। जापान, कोरिया आदि देशो में बौद्ध धम्म ले जाने वाले मिशनरी बौद्ध ब्राह्मण परिवर में जन्मे थे।[3] बौद्ध धर्म दुनिया के महान धर्मो मे से एक है जिसमें परमात्मा का कोइ स्थान नहीं और न ही स्वर्ग का लालच तथा नरक का डर दिखाकर लोगों को धर्म का पालन करने की शिक्षा दी गई। मानव को दुख अज्ञानता

1. वही, पृष्ठ– 2
2. वही, पृष्ठ– 5
3 वही,

और अन्धविश्वासों से मुक्त कराने तथा मानवता का स्तर ऊँचा उठाने में जो भूमिका बौद्ध ने निभाई वो किसी अन्य धर्म,व्यक्ति, समुदाय में नही दिखाई देती है। बौद्ध धम्म भारत में पैदा हुआ उसका लक्ष्य बहुजन के हित और बहुजन के सुख के लिए काम करना था। भारत में बौद्ध धम्म को नये सिरे से जीवित करने का श्रेय अनागरिक धर्मपाल को दिया जाता है परन्तु हम गौर से देखें तो ऐसा लगता हैं कि यह बहुत सही नहीं है। उनका बहुत समय महाबोधि मंदिर को बौद्धों के लिए हासिल करने में ही लग गया। इस संघर्ष को चालू रखने के लिए दूसरा बड़ा काम महाबोधि सोसायटी की स्थापना करना था, तीसरा महाबोधि पत्रिका चलाने का था। उन्होने यथा शक्ति बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार किया, परन्तु शिक्षा तथा साधनो की कमी के कारण वे बहुत ज्यादा प्रभावशाली या टिकाऊ काम नहीं कर पाये।

बौद्ध धम्म के प्रसार–प्रचार में डॉ0 अम्बेडकर का योगदान :

1935 में डॉ० अम्बेडकर ने अछूतो को हिन्दू धर्म त्याग देने का आह्वान किया, तो बम्बई प्रेसीडेंसी, चांभार और मेघवाल जातियों के कुछ सदस्यों ने बौद्ध धम्म स्वीकार किया। परन्तु वह कितना समय उससे जुडे रहे कुछ कहा नहीं जा सकता।[1]

1950 तक डॉ0 अम्बेडकर ने फैसला कर लिया कि अब वह बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेगें। यह निर्णय उन्होंनें हिन्दू धर्म का गहन अध्ययन करने के पश्चात लिया था। बौद्ध धर्म को स्वीकार करने का डॉ० अम्बेडकर का अपना ही तर्क था। उनका कहना था कि गरीबों और शूद्रों को सम्मान हिन्दू धर्म में नहीं मिल सकता इसके

---

1. वही, पृष्ठ– 26–27

लिए अन्य धर्म में जाना होगा। परन्तु दूसरे धर्म भी अपने आप में वह गुण नहीं रखतें जो विशेषतायें बौद्ध धर्म में है। क्योकि –

1. बौद्ध धर्म दुनिया के महान धर्मों में से एक है और भारत में उसका जन्म स्थान है।
2. बौद्ध धर्म समता, करूणा, मैत्री, त्याग और सेवा की शिक्षा देता है।
3. बौद्ध धर्म में जात–पाँत, रूढ़िवादि और अन्ध विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।
4. बौद्ध धर्म में नैतिकता और सामाजिक जिम्मेदारी को अधिक महत्व दिया गया है।
5. बौद्ध धर्म अन्य (ईश्वर और चमत्कारों पर भरोसा रखने वाले) धर्मो की तरह आत्मा, परमात्मा, चमत्कारों और पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं रखता, बल्कि व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाता है और सामाजिक जिम्मेदारी सिखाता है।
6. बौद्ध धर्म विज्ञान से नहीं टकराता।
7. बौद्ध धर्म अपनाने पर व्यक्ति ऊंची विरासत, ऊँची परम्पराओं और ऊँची संस्कृति का उत्तराधिकारी तथा अर्न्तराष्ट्रीय बौद्ध समुदाय का सदस्य बन जाता है।

धर्म परिवर्तन के परिणाम

डॉ० अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म में दीक्षित होने को धर्म परिवर्तन नहीं बल्कि धर्म क्रान्ति माना है। इसके लिये वे धर्म और धम्म में तात्विक अन्तर खोजतें है उनके अनुसार धम्म धर्म का प्रतिवाद है धर्म वैदिक परम्परा से विकसित होता है जिसमें वर्ण

व्यवस्था स्वधर्म के रूप में सामने लायी जाती है। धम्म का प्रतिवाद अथवा समता वादी समाज बौद्ध धारणा है। दोनो के साथ ही राजनीतिक और आर्थिक मान्यतायें भी भिन्न हो जाती है और ऐसा भी नहीं है कि डॉ अम्बेडकर ने अचानक धर्म परिवर्तन का मन बना लिया हो। इनके धर्म परिवर्तन करने से पूर्व भी धर्म परिवर्तन होता रहा हैं और हो रहे थे। हिन्दू समाज में दलितों के धर्म परिवर्तन का विरोध भी हो रहा था। यदि दलित मुस्लिम धर्म अपनाता था, तो उनको विरोध का सामना करना पड़ता था, यदि दलित ईसाई धर्म अपना रहा था तो भी उसका विरोध हो रहा था, हिन्दू समाज में धर्म परिवर्तन को ही गलत माना गया था। फिर भी बहुत सारे दलितों ने ईसाई एवं मुस्लिम धर्म को ग्रहण कर रखा था। डॉ० अम्बेडकर ने ऐसे दलितों को जिन्होने अपना धर्म परिवर्तन करके मुसलमान या ईसाई बन गये थे, उन सभी को पुनः हिन्दू धर्म मे लाकर गुलाम के रूप मे ही रखने को शुद्धि आन्दोलन चलाया था। उनका मानना था कि ईसाई या मुस्लिम धर्म अपनाने से बेहतर होगा कि हम हिन्दू धर्म में ही रहें, क्यो न गुलाम ही रहें, यदि देश स्वतंत्र होगा तो सभी गुलाम स्वतंत्र होंगे। लेकिन जो दलित अब तक स्वयं को हिन्दू ही मानते आ रहे थे वे हिन्दू समाज में ही रहकर अपने मानवीय और प्राकृतिक समानता के अधिकार प्राप्त करन के लिए आन्दोलन कर कर रहे थे।

डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि "हिन्दू समाज जात–पाँत और अछूत पन के कारण ही दुर्बल हुआ है। उसकी संघ शक्ति क्षीण हुई है। अपनत्व की भावना समाप्त हो चुकी है, हर जाति के अलग–अलग हित सबंध हैं और वे एक दूसरे के विरोधी हैं। इस लिए जात–पाँत और अछूत पन समाप्त होने से वे दोष समाप्त हो सकते हैं। उनका कहना था कि हिन्दुओ के शुद्धि अभियान की अपेक्षा संगठन की

ही ज्यादा जरूरत है।

डॉ० अम्बेडकर कहते है कि धर्म संकल्पना आज की चीज नहीं बल्कि मानवी विकास के प्रारम्भिक काल से ही इसका मानवी समूह के साथ निकट का सम्बंध रहा है। सांस्कृतिक मानव शास्त्र के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि धर्म का मानवीय जीवन से कितना निकट सम्बंध है। मानवीय समाज के सांस्कृतिक विकास के साथ–साथ धर्म संकल्पना का भी विकास हुआ। भारतीय जनजीवन पर धर्म संकल्पना का इतना प्रभाव है कि उतना प्रभाव पश्चिमी जनजीवन पर शायद ही होगा। भारत में धर्म संकल्पना आज भी व्यक्ति के सामाजिक और राजनीतिक जीवन को नियंत्रित करती है।, हिन्दू धर्म साहित्य में तैतिरीय उपनिषद में धर्म का मतलब आचार्य है। जो धारण करता है वह धर्म है। हिन्दू धर्म शास्त्रों द्वारा धर्म संकल्पना की जो परिभाषा कही गई है उसके अनुसार चातुवर्णय मानना, जात–पाँत मानना, अछूतपन मानना और उसका सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में पूरी तरह से पालन करना उनका धर्म है। यही उनका सदाचार, यही उनकी नैतिकता है। यहां धर्म ने व्यक्ति को धर्म और धर्म ग्रन्थो की बुद्धिवादी समीक्षा करने का कोई अधिकार ही नहीं दिया है। जो जहां है, जिस स्थिति में है, वो वहीं उसका धर्म है, वहीं वह खुश रहे।

बौद्ध धम्म क्रांन्ति का परिणाम

बौद्ध होने के बाद आर्थात धर्मान्तरित बौद्ध चेतना से होने के बाद उनमे, उनकी मानसिकता में, सामाजिक चेतना में, उनके सामाजिक आचरण मे निश्चित रूप से क्रान्तिकारी फर्क दिखाई देता है। दलित समाज बौद्ध हुआ लेकिन उनकी

गरीबी अब भी कायम है। लेकिन उनमे सामाजिक चेतना आई है। दलितो मे (बौद्धो मे) शिक्षा की क्रांति हुई है। जिन दलितों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया और जिन्होने नहीं किया उनमें बहुत बड़ा फर्क पड़ गया है। नव बौद्धो में बहुत बड़ी मानसिक क्रांति हुई है। उनमे रहन–सहन में, शिक्षा में और संस्कारो मे (संस्कृतिक जीवन मे) परिवर्तन हुआ हैं। नागपुर मे बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के बाद अपने–अपने गांव आए नवदीक्षितों ने मरे हुए जानवर फेंकना, उनका मांस खाना–कमाना बन्द कर दिया। विदर्भ(महाराष्ट्र) मे नवबौद्धो ने कोतवाली–कामदार को छोड दिया।[1] लोगों ने अपने घर के हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियां, उनके स्थान, पोथियां, मालाए आदि सब घर से बाहर निकालकर के फेंक दिये। लोगों ने मौत की खबर पहुंचाना, सवर्ण हिन्दुओं के घरों मे लकडी फाडना, उनके शादी–व्याह मे केवल भोजन के लिए काम करना, त्यौहारों के अवसर पर उनके घर भोजन मांगने के लिए जाना आदि बन्द कर दिया।[2]

नवदीक्षित बौद्धो ने सभी रस्म–रिवाज, पूजा–प्रार्थना पुरोहितशाही आदि सभी का त्याग कर दिया। पोथी पढ़ना छोड दिया। हिन्दू तीर्थ स्थानों की यात्रा करना, पिंड़दान करना, ब्राह्मण भोजन के लिये सूखा दान आदि देना त्याग दिया। उसी प्रकार दूसरी बात यह भी हुई की नवदीक्षित बौद्धो में कम से कम रुपया पैसा खर्च करके मंगनी शादी–ब्याह आदि होने लगे। शादी–ब्याह में लेन–देन (दहेज) आदि सब बन्द हुआ है। सात–सात, आठ–आठ, दिन चलने वाली शादियां बस केवल एक दिन या कुछ ही घंटो में समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार बौद्ध आन्दोलन ने दलित समाज में क्रान्तिकारी चेतना पैदा की, इसमें कोई सन्देह नही।

बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के कारण दलित समाज में अपने अधिकारों की

1. विमलकीर्ति, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 281
2. वही,

भावना पैदा हुई। धर्मान्तर से ही नवदीक्षित बौद्धों में स्वाभिमान की चेतना पैदा हुई। लेकिन यह उन्नति के राह पर पहला कदम है। लेकिन यही सबसे महत्वपूर्ण और सभी का मूलाधार है। अन्याय के प्रति जितनी जबर्दस्त चिढ़ नवदीक्षित बौद्धो में है उतनी हिन्दू दलितों में या गांधीवादी हरिजनो में नहीं है।

नवदीक्षित बौद्धों में जातिभेद और उपजातिवाद की भावनाएं भी उतनी तेज नहीं हैं। बल्कि उपजातिवाद एक तरह से टूट गया है। जिसका उदाहरण शादी–ब्याह, सामूहिक भोजन और अन्य सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में दिखाई देता है। नवदीक्षित बौद्ध अन्तरजाति विवाह के लिए जितना उत्सुक दिखाई देता है उतना अन्य कोई नहीं। हिन्दू दलितों या गांधीवादी हरिजन आज़ भी जाति चेतना से मुक्त नहीं हैं। हिन्दुओं में आज भी उपजाति के आधार पर सामाजिक, सास्कृतिक संस्थाएं रोज बनती हुई दिखाई देती है। जैसे तिरेले कुणबी समाज, मराठा महासंघ, शिल्पी समाज, देशस्थ ब्राह्मण संघ, ऋग्वेदी ब्राह्मण संघ, कार्यस्थ ब्राह्मण समाज, सिधी समाज आदि। लेकिन नवदीक्षित बौद्धो में जाति के या उपजाति के आधार पर कोई सामाजिक–सांस्कृतिक संघठन नहीं हैं जो यह सिद्ध करता है कि यह नव बौद्ध आन्दोलन विभेदकारियों प्रवृत्तियों को समाप्त करने का पक्षधर है, नवदीक्षित बौद्धों के शादी–ब्याह की निमन्त्रण पत्रिकाओं में जितनी आधुनिकता दिखाई देती है उतनी हिन्दू दलित में या हिन्दुओं में नही। नवदीक्षित बौद्धों के शादी–ब्याह आधुनिक होते हैं। इस तरह धर्मान्तर के कारण नवदीक्षित बौद्धों में आधुनिकी करण का काफी बड़ा प्रभाव हैं।

नवबौद्ध आंदोलन ने नवदीक्षित बौद्धों में जाति भेद की चेतना को बहुत हद तक कमजोर बना दिया है, और उसकी निरर्थकता साबित कर दिया है। उनके

---

1. वानखेड़े, मनोहर नाथ, नवभारत, जुलाई 1978

1

दिलो–दिमाग से ईश्वर आराधना समाप्त हो चुकी है। ब्राह्मण, पुरोहितवाद, ब्रह्मण वर्ण श्रेष्ठत्व, जाति–हीनता की बात खत्म हो गई है। अब वे हर क्षेत्र में समानता चाहते है, समानता मानते हैं। वह हिन्दू धर्मशास्त्रो को नही मानता हैं, वह पाप और पुण्य की, पवित्रता और अपवित्रता की हिन्दू धर्म–संकल्पनाओ से मुक्त हो गया हैं। उसमें भी तर्क की चेतना पैदा हुई, उसमें भी अब संदेह करने की क्षमता आ गई है। अब वह हिन्दूओं के बहिष्कार से नही डरता। वह बुद्ध की विष्णु का अवतार स्वीकार नही करता। अब उसको ईश्वर पर और उसके अवतार पर कोई विश्वास ही नहीं रहा, अब उसे न स्वर्ग की लालसा है और न नरक का डर है। वह धरती पर मनुष्यो में ही समानता की बात करता है।

बौद्ध आंदोलन से नवदीक्षित बौद्धों में एक हिम्मत जागी है। जब हिम्मत होती है तो विचार विकसित होता हैं। जब वें हिन्दू थे तब उनकी सारी हिम्मत खो गयी थी। विचारहीन हो गये थे इसलिए गुलाम बन गए थे। धर्मान्तर ने उन्हे विचारशील बनाया, विचार का जन्म होता हैं सन्देह से, विचार का जन्म होता है, संघर्ष से, विचार का जन्म होता है आलोचना से। डॉ० अम्बेडकर के नव बौद्ध आंदोलन[1]से उन्हें हमेशा यही शिक्षा मिलती रही। अम्बेडकरवाद मनुष्य को सन्देह करना सिखाता है, अलोचना करना सिखाता है। उनका संपूर्ण साहित्य ही आलोचनात्मक है। सन्देह से ही उन्होने इतना बड़ा आंदोलन खड़ा किया है उन्होंने शिक्षित, सगठित और संघर्षशील बनने का घोष वाक्य दलितों को दिया है। डॉ० अम्बेडकर ने बुद्धिज्म को स्वीकार करके दलित मुक्ति आंदोलन को नया दार्शनिक मूलाधार प्रदान किया है।[1]

डॉ० अम्बेडकर के बौद्ध आंदोलन का प्रभाव जिस प्रकार दलित समाज पर पड़ा उसी प्रकार इसका परिणाम सवर्ण हिन्दू समाज में भी दिखाई देता है। उसी

---

1. वानखेड़े, मनोहर नाथ, नवभारत, जुलाई 1978

प्रकार साम्यवादी तथा समाजवादी आंदोलनो पर भी इसका परिणाम दिखाई देता है। नवदीक्षित बौद्धों के नामों से दास, सेवक, राम, कृष्ण, मारोती, हनुमान, सीता लक्ष्मण, पार्वती, गणेश, टेकन आदि सब हट गए और उसकी जगह पर सिद्वार्थ, आशोक, गौतम, आनन्द, विशाखा, गौतमी, मायावती, प्रिया आदि नाम प्रचलित हुए। बुद्धप्रिय, संघप्रिय, नामों को अपनाया गया। नामों की भी अपनी मानसिकता होती है। और उसका परिणाम मनुष्य की चेतना पर पड़ता है। लोगों के पहनावे और बोलचाल की भाषा में भी फर्क आ गया है। भारत में पहनावे से भी जातिहीनता का सम्बन्ध था। पहनाव के आधार पर जाति पहचानी जाती थी। धर्मान्तर ने धर्मान्तरित नवबौद्धों की मूल चेतना को ही बदल दिया है।

एक समय में भारत के हिन्दू, बौद्ध धर्म को विदेशी धर्म अर्थात् चीनी, जापानी, सिंहली, शामी, वर्मी आदि लोगो का धर्म मानतें थे।[1] लेकिन डॉ० अम्बेडकर के नवबौद्ध आंदोलन ने इस गलत और नरफत पर आधारित धारणा को बदल दिया, बौद्धधर्म अब साधना और विपश्यना तथा दार्शनिक चर्चा और इतिहास की चीज नही रहा बल्कि वह समाजिक जीवन का दर्शन बन गया। बुद्ध के सामाजिक चिन्तन लेखन का कार्य शुरु हुआ। उसकी आलोचना, समर्थन, मुल्यांकन, विश्लेषण शुरु हुआ है। व्यापक मात्रा में पाली भाषा और साहित्य का अध्ययन–अध्यापन कार्य भी शुरु हुआ। एक समय था जब केवल संस्कृत साहित्य के आधार पर ही भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाता था लेकिन अब भारतीय समाज का ऐतिहासिक स्वरुप को समझने के लिए संस्कृत की अपेक्षा पाली भाषा, प्राकृत भाषा और साहित्य का विशेष महत्व स्वीकार किया जा रहा है।

डॉ० अम्बेडकर के बौद्ध आंदोलन का ही परिणम है कि समाजवादियों को

---

1. डॉ० विमलकीर्ति, पूर्वोक्त, पृ० 283

'जाति तोड़ो' जैसे सम्मेलन करने की गरज महसूस हुई है। उन्हे मन्दिर प्रवेश के आंदोलन चलाने पड़े। अब साम्यावदियों की अम्बेडकर विरोधी पैनी धार भी कम हुई fn [kkbZn s h g& e kD1 Økn h 1 akBu kau sv c M kW अम्बेडकर के विचारों का नये सिरे मूल्याकंन प्रारम्भ किया हैं। यही बात समाजवादियों की भी है। उसी प्रकार हिन्दुत्ववादी, गांधीवादी और सावरकर के अनुयायी भी अपने–अपने ढंग से डॉ० अम्बेडकर के विचारो का मुल्यांकन कर रहे है। अब उनकी पत्र–पत्रिकाओ में भी डॉ0 अम्बेडकर पर लेख लिखा जाता है।[1] उनके संघठनों में भी अम्बेडकरवाद और दलित मुक्ति आंदोलन की चर्चा होती हैं

डॉ० राममनोहर लोहिया के अनुरागी प्रसिद्व समाजवादी मधु लिमये को भी 'राष्ट्रीय आंदोलन की सामाजिक नीति' के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता महसूस हुई और यह कहना पड़ा कि दुर्भाग्य से डॉ० अम्बेडकर जैसे नेताओं की पीड़ा और व्यथा समाजवादी विचारधारा से प्रभावित पं0 जवाहरलाल नेहरु और सुभाषचन्द्र नही समझ पाये।[2] किसन पटनायक को धर्मान्तर विरोधी विधेयक के सवाल पर धर्मान्तर के समर्थन में डॉ० अम्बेडकर का 'दलितों को धर्मान्तर की आवश्यकता क्यो? (इ0स01936) भाषण 'सामूहिक वार्ता' में ऐतिहारिक दस्तावेज के रुप में प्रकाशित करना पडा।[3] उसी तरह साम्यवदियों को भी डॉ० अम्बेडकर के विचारो के अध्ययन की आवश्यकता महसूस हुई।

1. वही, पृष्ठ– 284
2. मधु लिमये, राष्ट्रीय आंदोलन की समाजिक नीति–प्रतिपक्ष, 08–01–1984–
3. पटनायक, किसन, सं0 सामूहिक वार्ता–पटना (बिहार,), अंक, मई– 1979–

राष्ट्रवाद का आधारः स्वतन्त्रता, समानता और संगठन

आधुनिक युग में किसी भी समाज की, देश की समस्या का हल उसकी संगठन शक्ति और उस समाज की, उस देश की राजनीतिक चेतना में है। आधुनिक राजनीति में शक्ति, संगठन और सत्ता का बड़ा ही महत्व हैं। डॉ० अम्बेडकर इस बात को समझते थे। जानते थे कि दलित, अछूत समस्या का हल उनकी सगंठन शक्ति, राजनीतिक चेतना और राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति में ही है। इस कारण धर्मान्तरण की घोषणा के बाद बम्बई की महार परिषद में उन्होने स्पष्ट रुप से कहा था कि हमें शक्ति प्राप्त करनी है और इसके लिये दो महत्वपूर्ण बातें कही थी, कि एक तो हमें धर्मान्तर करके किसी भी अन्य समाज में मिल जाना चाहिये। और उस समाज का समर्थन प्राप्त होना चाहिये इसी परिषद में अपने भाषण के अंत में कहा था कि " यदि आप लागों ने धर्मान्तरण के पक्ष में निर्णय किया तब तो आपको ये भी अश्वासन देना होगा कि सब लोग संगठित रुप में ही धर्मान्तर करेंगे। धर्मान्तर का निश्चय होने पर, हर कोई मन चाहे उस धर्म में जाकर हर तरह से अपनी एकता को भंग करना चाहेगा तो मैं आप लोगो के इस धर्मान्तर के कार्य में सम्मलित नही होऊंगा।[1]

इसका मतलब यह था कि दलितो का सामूहिक धर्मान्तर ही उनकी शक्ति का परिचायक बन सकता था। उनकी धर्मान्तर की घोषणा का आधार ही पूरी तरह ऐहिकता वादी था। दलितों के मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए था, न किसी अध्यात्मिक या ईश्वर, मोक्ष आदि प्राप्ति के लिए । इस देश की जात–पाँत और अछूत पन की समस्या को डॉ० अम्बेडकर एक प्रमुख समस्या मानते थे। और उनकी

---

1. डॉ0 अम्बेडकर, भाषण, मुक्ति कोण पथे, बम्बई, 31–05–1936

यह मान्यता थी कि जात–पात तथा अछूत पन की समस्या को एक प्रमुख राष्ट्रीय समस्या माने बिना उस समस्या को हल करने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सकता। उनकी इस मान्यता के कारण और इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने जो–जो आन्दोलन किये उन्ही के कारण बाद में सभी राजनीतिक दलों ने इस समस्या पर कुछ सोचना भी शुरु कर दिया था। इस समस्या पर गहन अध्यन के पश्चात और व्यापक आन्दोलनों के अनुभव के पश्चात उन्होने यह कहा था कि जितनी स्वराज की अवश्यकता इस देश के लिए है उतनी ही धर्मान्तर की अवश्यकता अछूतो के लिए है। धर्मान्तर और स्वराज इन दोनो का अन्तिम उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्रप्ति करना और दूसरों की गुलामी को नकार देना है। और यदि स्वतन्त्रता मनुष्य के लिए अवश्यकता है तो जिस धर्मान्तर से अछूतों को स्वतन्त्रता जीवन की प्रप्ति हो सकती है, उस धर्मान्तरण को निरर्थक कह देना दलितो का विरोध नही है तो और क्या है।[1]

उन्होने कहा था कि आर्थिक उन्नति पहले होनी चाहिए यह कहने वाले लोगो का मत मुझे ग्राह्य नही हो सकता है। पहले धर्मान्तर फिर आर्थिक उन्नति या पहले आर्थिक उन्नति फिर धर्मान्तर, यह दलील पहले राजनीतिक उन्नति या पहले सामाजिक उन्नति दलील की तरह' है। और इसलिए बेतुकी है। समाज की उन्नति और विकास के लिए कई साधनो की अवश्यकता है और वे सभी साधन अपनी–अपनी दृष्टि से आवश्यक होते है। उन्होने इस मूल्य की भी स्थापना की कि धर्म व्यक्ति के लिए है व्यक्ति धर्म के लिए नहीं। व्यक्ति महान है, वह धर्म से भी महान है व्यक्ति के बाद ही धर्म का स्थान है। धर्म साध्य नहीं बल्कि साधन है।

जात–पाँत और अछूत पन की समाप्ति का उनका यह धर्मान्तर का निश्चय

---

1. डॉ0 अम्बेडकर, अग्रलेख, बहिष्कृत भारत, 15–03–1929

किसी भी रुप में ऐहिक सुख, समानता और सामान्य अधिकारो की प्रप्ति का था। दलित समाज की सही मुक्ति धर्मान्तर से ही हो सकती थी। इसलिए उन्होने व्यक्तिगत तौर पर धर्मान्तर का विरोध किया और सामूहिक धर्मान्तर का समर्थन किया। व्यक्तिगत धर्मान्तर के कारण दलित समाज को किसी भी प्रकार की शक्ति प्राप्ति नही हो सकती थी। यह आम अनुभव था। सामूहिक धर्मान्तर से ही शक्ति और सत्ता प्राप्त हो शक्ति थी। जात–पाँत अछूत पन के विनाश के लिए धर्मान्तर ही सबसे प्रभावी हथियार था उनकी धारणा व्यापक अनुभव के आधार पर बन चुकी थी।

किसी भी समस्या का आधार उनके इतिहास में होता है और इसलिए उस समस्या का हल भी देश के इतिहास के अध्यन से ही खेजा जाना चहिए भले ही ज्ञान की रोशनी कहीं से भी प्राप्त करो, इस बात का पूरा अनुभव उनके बौद्ध मत के स्वीकार करने में आता है। बौद्ध मत लोकतन्त्र के अनुकूल और हिन्दू धर्म लोकतन्त्र के लिए प्रतिकूल है। बौद्ध मत लोकतन्त्र के लिए लोकतन्त्रीय संस्कृति का निर्माण करता है और हिन्दू धर्म अलोकतान्त्रिक संस्कृति को बढावा देता है।[1]

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने अपना एक लक्ष्य निर्धारित कर लिया था कि दलित समाज को किस प्रकार उबारा जाए जिन समस्याओं का मैंने सम्मान किया है, आगे वो समस्यायें अन्य दलितों के सामने न आयें, यही हर वक्त उनके दिमाग में गूंजता रहता था। हर वक्त समाज एवं सामाजिक उत्थान के बारे में सोचते रहते थे। उसी का परिणाम था नवबौद्ध आन्दोलन की शुरुआत।

---

1. विमल कीर्ति, पूर्वोक्त, पृष्ठ–154

बौद्ध धर्म की प्रतिज्ञायें

डॉ० अम्बेडकर ने पूज्य महास्थिवर चन्द्रमणि जी से बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के उपरान्त लाखों अछूतों शोषितों, दलितों और पिछडों को दीक्षा दी थी। त्रिशरण और पंचशील के उपरान्त उन्हे उस समय बाइस प्रतिज्ञायें भी प्रदान की गयी थी जो बाद में धर्मान्तरण का अवश्यक अंग बन गयी इन बाइस प्रतिज्ञाओं को सुनकर, कहकर हिन्दू वादियों को बहुत परेशानी हो गयी। परन्तु उन बाइस प्रतिज्ञाओं को ध्यान से पढ़ा जाये तो उनमें एक भी प्रतिज्ञा ऐसी नहीं है जो राजनीति से प्रेरित हो अथवा राजनीतिक प्राप्ति के लिए हो। इसमें कुछ प्रतिज्ञाएं हिन्दूओं के धार्मिक अन्ध विश्वासो एवं पाखंडो का विरोध करती हैं, कुछ बौद्ध धर्म के पंचशील सिद्धान्त की व्याख्या तो कुछ धर्म और दार्शनिक प्रत्ययों को प्रकट करती हैं। वो इस प्रकार से है–

1. मै ब्रह्मा, विष्णूं और महेश को कभी ईश्वर नही मानूंगा, न कभी उनकी पूजा करुंगा।
2. मै राम और कृष्ण को ईश्वर नही मानूंगा और न कभी उनकी पूजा करुंगा।
3. मैं गौरी, गणपति इत्यादि हिन्दू धर्म के किसी भी देवी देवताओ को नही मानूंगा और न कभी उनकी पूजा करुंगा।
4. ईश्वर ने भी अवतार लिया है मैं इसे कभी नही मानूंगा।
5. मैं, भगवान बुद्ध ईश्वर का अवतार है इसे कभी नही मानूंगा।
6. मैं श्राद्ध कभी नही करुंगा और न पिण्ड दान करुंगा।
7. मैं बौद्ध धर्म के विरुद्ध किसी भी काम को नही करुंगा।
8. मै किसी भी क्रिया, कर्म बह्मणो के हाथ से नही करवाउंगा।

9. मैं सभी मनुष्य समान है सिद्धान्त को मानूंगा।
10. मै समानता की स्थापना के लिए प्रयत्न करुंगा।
11. मै भगवान बुद्ध द्वारा बताई गयी दस परिमिताओं का पूर्ण पालन करुंगा।
12. मै प्राणी मात्र पर दया रखूंगा और उनका लालन पालन करुंगा।
13. मै ऐसा कोई भी कार्य नही करुंगा जो समाज के लिए आहितकारी हो।
14. मै कभी चोरी नही करुंगा।
15. मै कभी झूठ नही बोलूंगा।
16. मै व्यभिचार नही करुंगा।
17. मै शराब नही पीयूंगा।
18 . मै अपने जीवन को बौद्ध धर्म के तीन तत्व अर्थात् ज्ञान, शील और करुणा पर ढालने का प्रयत्न करुंगा।
19. मै मनुष्य मात्र के उत्कर्ष के लिए हानिकारक और नीचे मानने वाले अपने पुराने धर्म का पूरी तरह त्याग करता हूं और बौद्ध धर्म को स्वीकार करता हूं।
20. मै, मेरा ऐसा पूर्ण विश्वास है कि बौद्ध धर्म ही सधर्म है।
21. मै ये जानता हूं कि मेरा जन्म पुनः हो रहा है।
22. मै यह पवित्र प्रतिज्ञा करता हूं कि आज से मैं बौद्ध धर्म की शिक्षा के अनुसार आचरण करुंगा।

राष्ट्र के प्रति समर्पित डॉ0 अम्बेडकर

डॉ0 अम्बेडकर ने विद्या अध्ययन और साहित्य साधना को निरन्तर बनाये रखा। वह ठोस साहित्यकार एवं लेखक के रूप में भी विश्वविख्यात हुये, उनकी

कई महत्पवूर्ण रचनायें हैं। अन्तिम रचना भगवान बुद्ध और उनका धर्म जो बौद्ध साहित्य क्षेत्र में एक क्रांति कारी कृति मानी जाती है क्योकि उसमें बौद्ध धर्म एवं दर्शन को परम्पराओं तथा रूढ़ियों से हटकर परखा गया है। आज यह ग्रन्थ विश्व की प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित हो चुका है।[1] डॉ0 अम्बेडकर एक सच्चे देशभक्त राष्ट्रवादी थे। उनके नये भारत की कल्पना में भूत एवं वर्तमान का एक सुन्दर समन्वय मिलता है। उन्होंने भारत की बौद्ध सांस्कृतिक धरोहर को संभाला और संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उनका कहना था कि आधुनिक प्रगति से लाभ उठाना चाहिए डॉ0 अम्बेडकर ने जातिवादी दृष्टि कोण को पंसद नहीं किया अतीत में जो मूल्यहीन है, उसे त्याग दिया जाय और जो आज प्रासंगिक है उसे ग्रहण किया जाय। वह चाहते थे कि जाति विहीन समाज की स्थापना हो जिसमें कौमी एकता, राष्ट्रीय भावना, वैयक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक समता तथा धर्मिक सहिष्णुता जैसे आदर्शों का अनुसरण किया जाय। किसी के साथ छुआ–छूत तथा ऊँच–नीच का व्यवहार न हो और सभी नागरिक निर्भय होकर शान्ति एवं सद्भावपूर्ण जीवन यापन करें। "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" के बौद्ध सिद्धान्त को वह व्यवहारिक बनाना चाहते थे। डॉ० अम्बेडकर की प्रत्येक रचना तथा भाषण में दीन–हीन, दलित, पीड़ित लोगों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की अभिव्यक्ति मिलती है। प्रभुत्व, दलित, शिक्षित वर्ग का चिन्तन हिन्दू धर्म के साथ–साथ बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हुआ। शहरों में तथागत बुद्ध डॉ० अम्बेडकर के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक गवेषणात्मक लेखों के पठन पाठन में भी उसकी रूचि बढ़ी है। परन्तु शहरी जीवन में दो विचार धारा के शिक्षित दलित हैं। जो बौद्ध धर्म के माध्यम से नहीं अपितु डा0 अम्बेडकर द्वारा बतायें गये मार्ग में अपना उद्धार देखतें है।[1]

---

1. सिंह, रघुवीर डॉ0 अम्बेडकर एवं दलित चेतना, कामना प्रकाशन, दिल्ली, 1999 पृ0 51

दूसरे वर्ग के वह लोग सम्मिलित हैं जो डॉ० अम्बेडकर के दर्शन को अंगीकार करते हुए बौद्ध धर्म में ही अपनी मुक्ति का मार्ग देखते हैं। एक अल्पवर्ग भी है जो इन दोनो में विश्वास नहीं करता, जो अंधविश्वासों में लिपटे देवी–देवताओं का पूजक है परन्तु सामाजिक राजनैतिक क्षेत्र में डॉ0 अम्बेडकर व दलितोत्थान को महत्ता देता है। इन दलित अछूत जातियों में अधिकतर वह जातियां हैं जिन्होंने स्वतंत्रता से पूर्व अनुसूचित जातियों को जनसंख्या के हिसाब से प्रतिनिधित्व देने के प्रश्न पर डॉ0 अम्बेडकर का अपेक्षित सहयोग न देकर भारत सरकार अधिनियम 1935 की अनुसूची से अपनी जाति का नाम हटवाने हेतु आन्दोलन तक किया था। परन्तु शहरी बहुसंख्यक इस बात का पक्षधर है कि अछूत पन से मुक्ति बिना संघर्ष, बिना स्वतंत्र पहचान बनाये, सम्भव नहीं। आज उसे उस नायक की जरूरत है जो उसे किसी भी प्रकार के उत्पीड़न दमन से छुटकारा दिला दें। इसके लिये डॉ0 अम्बेडकर मानवतावादी दृष्टिकोण, उनका समता, समानता बंधुत्ववादी दर्शन, तथागत बुद्ध का सब प्रकार के अन्ध–विश्वास धारणाओं से दूर कर मानवता को एक माला में पिरोने वाला धर्म ही श्रेष्यकर है। वह उस दलित को सभी प्रकार के अन्धकार, सभी प्रकार की आवश्यकताओं सभी धारणाओं को दूर कर उनके मन को नया पन देते हुए, बहुजन के सुख के लिये सहयोग करने की क्षमता अर्जित कर लेगा भले ही रूढ़िवादी धर्म उसके उस मानवतावादी कल्याण कारी मार्ग में अवरोधक का काम करे। उनका धैर्य सहज ही उन्हे वह सम्बल प्रदान करेगा कि वह उनके कल्याण के मार्ग भी खेल देंगे जो अंध विश्वासों रूढ़ियों की दल–दल में फंसे हुए है।

'राष्ट्रवाद का मुख्य आधार होता है एकता की प्रबल भावना। सामाजिक समरूपता सद्भाव को जन्म देती है, और सद्भावपूर्ण वातावरण संगठित समाज को

सम्भव बनाता है और संगठित समाज, राष्ट्रीय शक्ति का आधार होता है। इस दृष्टि से जब हम भारत की ओर देखते हैं तो हमें निराशा ही हाथ लगती है। अनेकों धर्मों सम्प्रदायों, वर्ण और जातियों में बँटे समाज से संगठित राष्ट्र होने की अपेक्षा कम ही होती है, और जिस समाज में समाज के एक वर्ग विशेष को अतिनिम्न स्थिति में रखा जाये और तमाम सामाजिक आर्थिक ओर राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखा जाये ऐसे समाज से संगठित होने की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। डॉ० अम्बेडकर ने इस तथ्य को भली प्रकार से समझा था इसीलिए उन्होंने भारत को विकासशील राष्ट्र कहा था, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्वीकार नहीं करते, इसका अर्थ मात्र इतना है कि अपनी तमाम विद्वेष जनक विषमताओं को दूर किये बिना भारत एक राष्ट्र नहीं बन सकता। और यह स्थिति तभी आ सकती है जब भारत सनातन हिन्दू धर्म के दायरे से बाहर लाया जाये। डॉ० अम्बेडकर बौद्ध धर्म में भारतीय राष्ट्रवाद के तत्व तलाशतें हैं। उनका यह मानना था कि भारतीय राष्ट्र की विघटनकारी चुनौतियां न तो हिन्दू धर्म के अपनाने से दूर हो सकती है और न ही इस्लाम धर्म के अपनाने से, उनके मत में इसका एक मात्र मार्ग है बौद्ध धर्म को स्वीकार करना। जो ईश्वरीय सत्ता से अलग मानव की सत्ता का उपासक है, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का पोषक है। डॉ० अम्बेडकर बौद्ध धर्म के माध्यम से ही भारत की राष्ट्रीय चेतना को संगठित करना चाहते थे।

बुद्ध' शब्द ही बुद्धिवादका प्रतीक है। विचारवान का प्रतीक है। विचार–हीनता का प्रतीक है। बुद्ध ने मनुष्य की बुद्धि को प्रेरणा दी है। मनुष्य के मन काप्रेरित किया है। बुद्ध का सम्पूर्ण चिन्तन बुद्धिवाद पर आधारित है। बुद्ध के दर्शन में बुद्धि, तर्क और समानता को बड़ा महत्व है। बुद्ध ने कहा है कि हर बात को बुद्धि

और तर्क और कसौटी पर कसने के बाद ही सवीकार करना चाहिए। बुद्ध ने एक जगह पर कहा है कि मै भी कृषक हूं। मैं भी खेती करता हूं। मैं भी जमीन में हल चलाता हूं। वे कहते हैं कि मैं आदमियों के दिलो–दिमाग की जड़ता को निकालता हूं, उसमें व्याप्त कूड़ा–करकट को निकालता हूं और उसमें अच्छे, विचार पैदा करता हूं। यही बुद्व की खेती है। बुद्ध ने कहा कि बुद्धिमान बनो, न्यायाशील रहो संगति अच्छी रखो। प्रत्येक कार्य करते समय जागरुक रहो, प्रत्येक काम में सोच–विचार से काम लो, हर विषय में अप्रमादी और उत्साही रहो, विचारहीन मत बनो, विचारवान बनो। दलदल में फॅसे हुए हाथी की तरह आपने आपको उबरो। इसीलिए बुद्व ने मनुष्य को विचारवान बनने की प्रेरणा दी है। विचारवान आदमी ही सही में अपने दुखों को, अपने शोषण, उत्पीड़न से मुक्ति का रास्ता खोज सकता है, अपने अधिकारों के लिए लड़–खगड़ सकता है। वह अपने आपको बुराई से दूर रख सकता हैं इसलिए बुद्ध ने मनुष्य बुद्धि को ही आहवान किया था। जिस आदमी में सोचने की शक्ति नहीं, जिस व्यक्ति या समाज की चिन्तनशीलता मर गई वह क्रांति दिलो–दिमाग में होती है बाद में समाज में।

****

अध्याय–8

उपसंहार

उपसंहार

राष्ट्रवाद की अवधारणा राष्ट्र को आधार मान कर किये गये चिंतन और क्रिया पर आधरित होती है। जब किसी देश के निवासी अपने देश की जमीन, उसकी संस्कृति और उसकी विरासत को श्रेष्ठ मानते हुये उसके प्रति सम्मान भाव से अपने विचारों, भावनाओं और क्रियाओ को अभिव्यक्ति करते है तो वे राष्ट्रवादी कहे जाते हैं। वास्तव में राष्ट्रवाद की अवधारणा राष्ट्रीय एकता का आधार होती है और यही राष्ट्रीय एकता राष्ट्रीय शक्ति की प्रबल स्रोत होती है। यही कारण है कि किसी भी राष्ट्र के प्रभुत्व नेतृत्व द्वारा राष्ट्रवाद की अवधारणा को सुदृढ़ करने के उदेद्श्य से प्रेरक विचार व दिशा निर्देश दिये जाते रहे हैं।

राष्ट्रवाद का साधारण सा अर्थ है राष्ट्र को आधार मान कर चिंतन और क्रिया करना। राष्ट्र किसी भूमि के टुकड़े का नाम नहीं। देश, राज्य और राष्ट्र भी समानार्थक शब्द नहीं हैं। देश भूमि की परम्परागत अथवा निर्धारित सीमाओं को स्पष्ट करता है। प्रत्येक देश की एक विशिष्ट संस्कृति होती है। उस संस्कृति में निहित जीवन शैली के अनुसार उस देश के निवासी अपना जीवन यापन करते है। राज्य प्रभुत्व सम्पन्न एक राजनीतिक संगठन मात्र है इसके विपरीत राष्ट्र एक ऐसा संगठन है जो राजनीतिक एकता के साथ–साथ भावनात्मक एकता के आधार पर संगठित इकाई की ओर संकेत करता है। पाश्चात्य जगत में राष्ट्र की कल्पना का उदय तब हुआ जब कुछ जन समुदायो मे किसी प्रकार अपने आप को प्रादेशिक सीमाओं में आबद्ध कर सगंठित होना प्रारम्भ किया। विशेष प्रदेशों के मन में उस भूमि के प्रति यह भावना उत्पन्न हुयी कि वह उनका पोषण करती है, अतः उनकी

माता है और वे उसके पुत्र हैं। उन्होने अपनी एक विशिष्ट जीवन पद्धति का विकास कर लिया जो अन्य जन समुदायों से भिन्न थे। इस प्रकार वे स्वतन्त्र आस्तिव रखने वाले सुगठित एवं अविभाज्य समुदाय बन गये इन समुदायों को ही राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस राष्ट्र के प्रति अविभाजित श्रृद्धा की भावना ही राष्ट्रवाद है। इस दृष्टि से राष्ट्र एक ऐसा राज्य है जिसमे वहां के निवासियो को स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी पसन्द की शासन व्यवस्था लागू करने का अधिकार होता है जिसके प्रति उनमें श्रृद्धा की अनुभूति होती है। कोहन ने सही ही कहा है कि राष्ट्रवाद एक विचार है, एक शक्ति है जो मनुष्य के मष्तिक और हृदय को नवीन विचारो और भावनाओं से भर देती है और अपनी चेतना को सगंठित क्रिया के कार्यो में परिणति करने की प्रेरणा देती है। अस्तु राष्ट्रवाद एक भावनात्मक प्रेरणा है जो व्यक्ति को सामूहिक प्रयत्न में भागीदार बनाती है। उसे समाज हित के लिये सबके साथ चलने और कार्य करने के योग्य बनाती है।

राष्ट्रवाद का प्रमुख तत्व पवित्र मातृ भूमि के लिये प्रबल भक्ति भावना है। राष्ट्रवाद का अन्तिम किन्तु अत्यन्त महत्व पूर्ण तत्व समान संस्कृति, समान इतिहास और समान आदर्शो और आकांक्षाओं से उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद के अन्य भी महत्व पूर्ण तत्व हैं। जैसे एक निश्चित भू भाग जिसके साथ लोगो का लगाव हो और जिसे लोग पितृ भूमि अथवा मातृभूमि समझते हों, एक अपेक्षाकृत सजातीय मानस समूह, एक सामान्य संस्कृति, एक सामान्य भाषा, एक सामान्य कानून और संगठन, एक राष्ट्रीय अर्थनीति और आत्म निर्णय का अधिकार तथा सम्प्रभुता।

इस दृष्टि से यदि भारत के राष्ट्रवाद का विवेचन किया जाय तो भारत इस

कसौटी पर खरा नही उतरता। अपने विविधिता पूर्ण संस्कृति के कारण भारत पाश्चात्य राष्ट्रवाद की इस अवधारणा से दूर है। वास्तव में राष्ट्र और राष्ट्रवाद की पाश्चात्य अवधारणा भौतिक तथा बाह्य सामनताओं पर आधारित है, जिसमें उन्होंने भूमि, नस्ल, धर्म, भाषा, संस्कृति की एकता के मानक निर्धारित करते हुये राष्ट्र की पहचान सुनिश्चित की है। इन्ही आधारों पर भारत में जिन्ना का द्विराष्ट्रवाद भी इसी आक्षेप की परिणति मानी जा सकती है।

भारतीय राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में विद्वानों के दो वर्ग दिखाई देते हैं। एक वर्ग भारत को बहुराष्ट्रीयता वाला राष्ट्र कहता है, किन्तु दूसरा वर्ग इस बात पर बल देता है कि यह बहुराष्ट्रीयता वाला राज्य है जहां राष्ट्रीयता का निर्माण राष्ट्र निर्माण के पूर्व हुआ है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि इससे राष्ट्रवाद का ही निर्माण हो इसके अतिरिक्त एक विचार यह भी आता है कि या तो भारत एक नवीन राष्ट्र है, अथवा राष्ट्र निर्माण के काल में है, या यह राष्ट्रो का एक राज्य मात्र है। इन अवधारणाओं के पीछे सम्भवतः यह तर्क दिया जा सकता है कि भारत में दोहरी चेतना दिखाई देती है। एक ओर हम स्वयम् को भारतवासी कहते है दूसरी ओर क्षेत्रवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, की भावना से मुक्त नही हो पाते। यही कारण है कि कभी–कभी आदर्शो की जब बात होती है तब प्रायः एक सूत्र उछाला जाता है कि हम पहले भारत वासी हैं फिर हिन्दू, मुस्लिम, सिख अथवा ईसाई यह नारा स्पष्ट रुप से भारतीयता की चेतना के साथ–साथ हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई या इसी प्रकार के अन्य किसी विभेद कारी चेतना को भी हमारे साथ सम्बन्ध रखता है। यह दोहरी चेतना की स्थिति राष्ट्र निर्माण में साधक नही बल्कि बाधक है।

यही कारण है कि डॉ० अम्बेडकर ने भारत को एक निर्माणाधीन अथवा

विकासशील राष्ट्र की संज्ञा दी है। उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि भारत तब तक राष्ट्र नही बन सकता जब तक हम यह न सोचने लगें कि हम पहले भी भारतवासी है और बाद में भी भारतवासी हैं। भारत अथवा भारतीयता के अतिरिक्त यदि कोई भी विचार अथवा चेतना हमारे साथ सम्बन्ध रखती है तो हम राष्ट्र कहलाने के हकदार नहीं हैं। भारत एक राष्ट्र के रुप में तभी पहचाना जा सकता है जब भारतीय सामाज और संस्कृति से विभेदकारी असमानता उत्पन्न करने वाले तत्वों का समूल नाश नहीं कर दिया जाता।

डॉ० अम्बेडकर के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद के लिये सबसे बड़ी चुनौती जातीय विभेद, स्तरीकरण, अस्पृश्यता का भावना हो और सामप्रदायिकता की भावना हो डॉ० अम्बेडकर ने 26 नवम्बर 1949 को संविधान सभा में, जब भारत का संविधान पारित करने जा रहे थे तब स्पष्ट कहा था कि हम एक देश हैं यह सोच एक बड़ा भुलावा है। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया कि हजारों जातियो में बटे लोग एक राष्ट्र का हिस्सा कैसे हो सकते हैं? जातिया राष्ट्रीयता विरोधी होती हैं एक तरफ वे सामाजिक जीवन में भेद भाव को बढावा देती हैं तो दूसरी तरफ वे विभिन्न समूहो मे इर्ष्या एवं टकराव की स्थिति पैदा करती हैं। यदि हमे राष्ट्र बनना है तो सबसे पहले इस कठिनाई को दूर करना होगा। डॉ० अम्बेडकर ने पाश्चात्य राष्ट्रवाद के भौतिक सामानाओं के तर्क को दर किनार करते हुये एक विचार दिया कि राष्ट्र एक जीती जागती आत्मा है, यह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है। साथ–साथ रहने की इच्छा और शौर्य से भरा अतीत राष्ट्रवाद की आधार शिला होती है।

डॉ० अम्बेडकर लोकतान्त्रिक भारत के साथ–साथ लोकतान्त्रिक समाज भी चाहते थे जिसमें स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुता जीवन के अभिन्न अंग हों। वे ऐसे राष्ट्र

का निर्माण नहीं चाहते थे जिसमें स्वतन्त्रता तो हो किन्तु आपसी भाईचारा सामानता एवं बधुन्ता न हो। उनका विचार था कि लोकतान्त्रिक सरकार के साथ–साथ लोकतान्त्रिक समाज और अर्थतन्त्र भी होना चाहिए। इनके अभाव में राष्ट्रीय एकता का भाव उत्पन्न करना कठिन कार्य होगा। डॉ० अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि जब तक राजनीति सामाजिक व आर्थिक विषमता का अन्त नही कर लूंगा चैन से नही बैठूंगा। लोकतन्त्र के स्थायित्व के लिये आवश्यक है कि जाति विहीन व वर्ग विहीन समाज की स्थापना की जाय।

भारत में सामप्रदायिक विद्वेष तो राष्ट्र को तोड़ने का काम कर ही रहा थी सामाजिक विषमता व विद्वेष भी इसे शक्ति हीन बना रही थी सामाज के संसाधन कुछ वर्गों तक ही सीमित थे और शेष को इनसे वंचित रखा गया। इतना ही नहीं उन पर इतने प्रतिबन्ध व आयोग्यतायें थोप दी गयी कि उनकी स्थिति पशुओं से भी बद्तर बनी रही इससे स्पष्ट है कि वंचितों के मन में राष्ट्र के प्रति अनुराग तब तक नही उत्पन्न किया जा सकता जब तक की उन्हे हर स्तर पर सामान भागीदारी न प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में डॉ० अम्बेडकर ने स्पष्ट किया कि हिन्दू सनातन धर्म में रहते हुये वंचित दलितों का कल्याण नहीं हो सकता। यूरोप में ईसाई धर्म के जिस स्वरुप को मार्क्स ने देखा था डॉ० अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म के उसी तरह के स्वरुप का स्वयं अनुभव किया था मार्क्स धर्म को छोड़ देता है किन्तु डॉ० अम्बेडकर धर्म का दामन नही छोड़तें वे समाज में और जीवन में धर्म के महत्व से, उसकी उपयोगिता से प्रभावति थे अतः उन्होंने अन्यत्र किसी धर्म में राष्ट्र के लिये एक समान समाज के आदर्श को तलाशना प्रारम्भ किया। इस उददेश्य से उन्होंने विभिन्न धर्मो की तार्किक समीक्षा की और अन्ततः बौद्ध धर्म को अपने लक्ष्य के निकट पाया।

बौद्ध धर्म ने डॉ० अम्बेडकर को सभी दृष्टिकोंणो से प्रभावित किया। डॉ० अम्बेडकर की शिक्षा–दीक्षा विदेशों में होने और अमेरिकन प्रोफेसर जान डी०वी० के प्रिय शिष्य होने के कारण उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण और उपयोगिता वादी विचारधारा में अत्यन्त सशक्तता आ गयी थी। उन्हे बौद्ध धर्म के दर्शन, विशेषकर अनित्यता, अनात्मवाद और अनिश्वरवाद ने विशेष प्रभावित किया। उन्हे धर्म के सशक्त नीति शास्त्र महानतम तर्क शास्त्र और वैज्ञानिक ज्ञान शास्त्र ने बहुत प्रभावित किया था। वर्ण–व्यवस्था और जाति के विषय में बुद्ध के विचारों ने डॉ० अम्बेडकर पर अमिट छाप छोड़ी। उन्होने अनुभव किया कि बौद्ध धर्म में पाखण्ड, अन्धविश्वास आदि के लिये किंचित मात्र भी स्थान नहीं है। सभी प्रकार के शोषणों, उत्पीडनों, अत्याचारों और अन्याय को सामाप्त कर समानता, स्वतन्त्रता, बधुत्व और न्याय मूलक समाज की स्थापना बौद्ध धर्म में ही सम्भव हो सकता है। बौद्ध संस्कृति की महानता व्यापकता और श्रेष्ठता से ही दलितो का उद्धार सम्भव हो सकता है। ऐसा उन्होने अनुभव किया, इसलिये डॉ० अम्बेडकर को बौद्ध धर्म ने आकर्षित किया और अन्त में वे तथागत बुद्ध की शरण में गये।

यदि डॉ० अम्बेडकर के धर्मान्तरण का वैज्ञानिक तार्किक, निष्पक्ष एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन और वि वेचन किया जायें तो निर्पेक्ष रुप से यह कहा जा सकता है कि उनके धर्मान्तरण का सर्वोच्च साध्य भारत का सर्वांगीण विकास एवं सशक्त राष्ट्र का निर्माण करते हुये मानवीय एवं नैतिक मूल्यों के साम्राज्य की स्थापना करना था। डॉ० अम्बेडकर को भारत की अवनति एवं पराभाव सर्वदा खटकता रहता था। वह कमजोर भारत देखना नही चाहते थे। 26 नवम्बर 1949 को भारतीय संविधान सभा में संविधान पारित होते समय उन्होंने राष्ट्र को चेतावनी देते

हुये, इसप्रकार अपने हदय के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति की थी "26 जनवरी 1950 को हम राजनैतिक जीवन में समान होगें और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में असमान। हमे इस विषमता को जल्दी से जल्दी हटाना होगा वरना इस विषमता के शिकार लोग राजनैतिक प्रजातन्त्र का यह ढांचा उखाड़कर फेंक देंगे। डॉ० अम्बेडकर का यह कथन स्पष्ट नहीं, बल्कि सुस्पष्ट है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि औपचारिक रुप से समानता, स्वतन्त्रता, बधुत्व और समाजिक न्याय भारतीय संविधान की प्रस्तावना में तो दृष्टि गोचर होते हैं और मौलिक अधिकारों में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रुप से परिलक्षित होते हैं, लेकिन यथार्थ सामाजिक जीवन में ये कोसों दूर हैं। यदि समानता, स्वतन्त्रता, बधुत्व और न्याय नागरिकों के सामाजिक जीवन में नहीं है, तो राजनैतिक जीवन में कोरे गाल बजाकर पंगु रह जाते हैं।" इसका सबसे बड़ा कारण और वास्तविकता यह है कि भारत की सामाजिक विषमतायें, अन्याय पूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक ढांचा भारत की राजनीति को पूर्ण रुपेण नियन्त्रित करके खोखला करने में लगे हुये है। इस बात को डॉ० अम्बेडकर भली भांति जानते थे कि जब तक भारत में सामाजिक आर्थिक, शैक्षिक प्रशासनिक क्षेत्र में समानता न आये, तब तक राजनैतिक क्षेत्र में समानता, स्वतनत्रता, न्याय और बन्धुत्व दिवास्वपन की भांति असम्भव और शेख चिल्ली के ख्वाब की तरह निरर्थक एवं ढोंग मात्र होंगे। यथार्थ में डॉ० अम्बेडकर के धर्म परिवर्तन की नींव का पत्थर यही विचार था। डॉ० अम्बेडकर देश की राजनीतिक स्थिति में न मुस्लिमों के समर्थक थे और न हिन्दुओं के समर्थक। उन्होंने कभी भी धर्म के आधार पर राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं किया। उन्होंने 1938 को सोलापुर में ससंदीय लोकतन्त्र पर अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते हुये कहा था कि मैं इस बात की, कि सभी परिस्थितियों और विशेषकर

देश की वर्तमान हालत में लोकतन्त्र ही अपनायें, यह आदर्श है, लोकतन्त्र ही एक उचित प्रणाली है। एक तरफ उन्होंने देश की मौजूदा परिस्थिति में लोकतन्त्र शासन प्रणाली का समर्थन किया तो दूसरी ओर मनमाड़ (महाराष्ट्र) में दलित वर्ग रेल मजदूर कांग्रेस को सम्बोधित करते हुये उन्होंने कहा था कि मेरे ख्याल से इस देश में मजदूर वर्ग के दो शत्रु हैं एक ब्राह्मण दूसरा पूंजीवाद। ब्राह्मण शब्द की परिभाषा करते हुये उन्होंने कहा था कि, समानता, स्वतन्त्रता और भाईचारे को न मानने वालों को मैं कामगारों का शत्रु मानता हूँ। ब्राह्मणवाद ऐसी व्याधि है कि जिससे ब्राह्मणेत्तर भी ग्रस्त थे।

डॉ० अम्बेडकर धर्म के आधार पर राष्ट्रवाद की संकल्पना को अस्वीकार करते हैं इसलिये 1937 के बाद जिस द्विराष्ट्रवाद की संकल्पना ने हिन्दू और मुसिलिमो को दो खेमों में बांट दिया था उससे उन्होंने एकदम अलग ही अपना आन्दोलन सोच रखा था। उनके द्वारा धर्मांतर की घोषणा का स्पष्ट मतलब ही यह था कि धर्म के आधार पर राष्ट्र की संकलपना का विरोध करना। उनका यह स्पष्ट मत था कि न तो हिन्दू धर्म तथा संस्कृति निकट भविष्य में भारत को प्राप्त होने वाली लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली के लिए अनुकूल है और नही इस्लाम या इस्लामी संस्कृति लोकतंत्र के लिए अनुकूल है। दोनों धर्म तथा दोनों संस्कृतियां लोकतंत्र विरोधी हैं। इस संदर्भ में उनकी धर्मान्तर की घोषणा अपने आप में एक महत्वपूर्ण चीज है। इस लिए वे धर्म निरपेक्षता के आधार पर अपने संगठनों को मजबूत कर रहे थे। और इसी दिशा में उनकी सोच भी थी। वे यह भी मानते थे कि हिन्दू राष्ट्रवाद या मुस्लिम राष्ट्रवाद में इस देश की जात–पांत तथा अछूतपन की समस्या तथा कामगार सर्वहारा वर्ग की किसी भी समस्या का कोई हल नही है दलित सर्वहारा समाज की समस्या केवल

धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद में हल हो सकती है। भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी यह भूमिका और भी अधिक रुप से स्पष्ट होती है।

देश में 1937 के बाद जो राजनीतिक संघर्ष–द्विराष्ट्रवाद खड़ा हुआ उस संदर्भ में डॉ० अम्बेडकर द्वारा धर्मान्तर की घोषणा करना इसमें बहुत ही व्यापक संदर्भ में इस धर्मान्तर की घोषणा की ओर देखना चाहिए। यदि डॉ० अम्बेडकर भी इस द्विराष्ट्रवाद के राजनीतिक संघर्ष में हिन्दू सनातनी या मुस्लिम सनातनियों में किसी एक के पक्ष में खड़े हो जाते तो शायद देश में बाद में भारतीय संविधान का जो रुप बना और देश में धर्म निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का रुप बना वह न बन पाता और जात –पांत तथा अछूतपन की समस्याएं ज्यों की त्यों रह जाती, यह कहना गलत न होगा।

यही कारण हैं कि डॉ० अम्बेडकर ने सभी धर्मो को छोड़ बौद्धमत को स्वीकार किया। यह एक ऐसी संकल्पना है, जो ईश्वर और आत्मा की बात न मानते हुये केवल मानव धर्म का प्रतिपादन करता है एक ऐसे समाज की स्थापना चाहता है जो स्वतन्त्रता, समानता, और भाईचारे पर आधारित हो और यही तीन तत्व किसी भी राष्ट्र के शक्ति के आधार होते हैं। वर्तमान परिदृश्य में हम देखें तो स्पष्ट होगा कि स्वतन्त्रता के 61 वर्षो बाद भी जातियों ने अपना विघटनकारी स्वरुप नही खोया है यह सही है कि अस्पृश्यता की भावना काफी हद तक समाप्त हो चुकी है, वंचितों के समग्र अधिकारों के रास्ते खुले हुये हैं, समाज में वे एक नया मुकाम भी बना रहे हैं, जाति किसी बोतल पर लगे लेबल के समान रह गया है। किन्तु राजनीति पर इसका नाकारात्मक प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक दलों ने जातियों को अपने बोट बैंक का आधार बनाते हुये विभिन्न खेमों में बांट दिया है जो भारत की राष्ट्रीयता के लिये

एक बहुत बड़ी चुनौती है। समाज में जातीय आधार पर जो राजनीतिक विषवमन हो रहा है वह निश्चिय ही समाज को ही नही बल्कि राष्ट्रीय एकता को भी तार–तार कर रहा है।

यदि आज भी हम डॉ० अम्बेडकर के बौद्ध धर्म अपनाने की परिकल्पना को स्वीकार करें तो सम्भवत इस निराशाजनक स्थिति से मुक्ति का कोई मार्ग दिखाई दे सकता है। यह सत्य है कि बौद्ध धर्म और नवबौद्ध आन्दोलन अनुसूचित जातियों में ही अधिक लोकप्रिय हुआ किन्तु समूह में धर्म परिवर्तन की जो परिकल्पना डॉ० अम्बेडकर ने की थी वह भी साकार नही हो सका है।

यद्यपि यह एक परिकल्पना मात्र है। किन्तु प्लेटो और थामस मूर के विचारों की तरह काल्पनिक नहीं है। "भारतीय समाज के सभी वर्गों के लोग चाहे वे किसी जाति अथवा धर्म के अनुयायी हो, बुद्धम् शरणम् गच्छामि" का जय घोष करें और भारत की बहुसंख्यक अबादी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर ले तो राष्ट्र को अत्याधिक चोट पहुंचाने वाले सामाजिक और साम्प्रदायिक चुनौतियों को समाप्त किया जा सकता है और भारत एक निर्माणाधीन राष्ट्र से ऊपर उठकर एक वास्तिवक राष्ट्र के रुप में स्थापित हो सकेगा।

****

सन्दर्भ ग्रन्थ

सन्दर्भ ग्रन्थ

प्राथमिक

- भारत का संविधान
- बुद्ध एण्ड हिज धम्मा
- कास्ट इन इण्डिया(1923)
- कम्यूनल डेडलाक एण्ड टू सॉल्व इट
- डॉ० अम्बेडकर, सम्पूर्ण बांगमय (1से 24 खण्ड), डॉ० अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1998
- गास्पेल ऑफ बुद्धिज्म
- दि अनटचेबल (1948)
- हू वेयर शुद्राज (1945)

द्वितीयकः–

- आबिद रिजवी, शबाना करीम, भारत रत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर, रजत प्रकाशन, मेरठ
- अम्बेडकर, बाबा साहब डॉ० बी. आर. दलित वर्ग को धर्मान्तर की अवश्यक्ता क्यो है? अमन पब्लिकेशन, यमुना बिहार, दिल्ली–33
- अम्बेडकर, बी.आर., रानाडे गांधी और जिन्ना, ठक्कर एण्ड कम्पनी लि. बम्बई 1943
- आर्य, मोहनलाल, दलित चेतना का ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन, ज्ञान प्रेस कालीवाड़ी बरेली–1994

- अरविन्द कुमार 'बिन्दु' एवं ताराचन्द्र, डॉ० अम्बेडकर एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व, अम्बेडकर पुस्तकालय, जलालपुर, जौनपुर 1996
- बनौधा, रामचन्द्र, अम्बेडकर का जीवन संघर्ष, 325, राजापुर, इलाहाबाद–1947
- बसंत मून, डॉ० बाबा साहब अम्बेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया ए–5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली–1991
- भण्डारी, चन्द्रशेखर, प्रखर राष्ट्रभक्त डॉ० भीमराव अम्बेडकर, सुरुचि प्रकाशन नई दिल्ली–1991।
- भगवानदास, भारत में बौद्व धर्म का पुनर्जागरण एवं समस्यायें, दलित टूडे प्रकाशन, लखनऊ 1999
- दत्ता, एन. के. ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया, इण्डिया प्रकाशन।
- द्विवेदी, कृष्ण दत, भारतीय पुनर्जागरण और मदनमोहन मालवीय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 1982
- देसाई, ए.आर., भारतीय राष्ट्रवाद का समाजिक पृष्ठ भूमि, पापुलर बुक डिपों, बम्बई– 1959
- धर्मवीर, बालक अम्बेडकर, शेष साहित्य प्रकाशन, शहदरा दिल्ली 1990
- धर्मकीर्ति, बाबा साहब अम्बेडकर का नरक से छुटकारा, भारतीय बौद्व महासभा प्रकाशक, दिल्ली– 1998
- गुप्ता ए.एल. एवं शर्मा डी.डी., भारतीय समाज तथा संस्कृति, साहित्य भवन, आगरा, 1990
- गुप्ता, नागेन्द्र नाथ, इण्डियन नेशनलिज्म, हिन्द किट्लेस, लि. बम्बई, 1546

- गुप्ता नीलम, हरिजन से दलित, नई दिल्ली वाणी प्रकाशन 1994
- गुप्त, विश्व प्रकाश, भीमराव अम्बेडकर व्यकित्व और विचार, उ.प्र. भाषा संस्थान के सौजन्य से लखनऊ, 1998
- प्रसाद एच.एल., आदि–भारत मुक्ति बहुजन समाज (एक पत्र गोसाई के नाम)
- जाटव डी.आर., राष्ट्रीय आन्दोलन में डॉ० अम्बेडकर की भूमिका, जयपुर, 1993
- जाटव डी.आर. डॉ० अम्बेडकर–एक प्रखर विद्रोही, ए.बी.डी पब्लिशर्स, नटराज नगर, जयपुर 2004
- झा, उमारमण, भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता, शिवम् आट्‌र्स, निशातगंज लखनऊ 2002
- कपाड़िया, के.एम., मैंरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस बाम्बे, 1958
- कीर, धनंजय, डॉ० अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन–1962
- कर्दम, जयप्रकाश, बौद्व दार्शनिक, संगीता प्रकाशन, विश्वास नगर नई दिल्ली–1996
- कर्दम जयप्रकाश बुद्व का सफर, संगीता प्रकाशन, विश्वास नगर नई दिल्ली 1996
- कालीचरण 'स्नेही', भारत रत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर, आराधना ब्रदर्स गोविन्दनगर कानपुर–1991
- खरात, शंकरराव, डॉ० बाबा साहेब अम्बेडकराचें धर्मान्तर, नागपुर 1966
- खरे, गणेश, भारत की सांस्कृतिक चेतना, शान्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995

- मेश्राम, एल.जी., 'विमल कीर्ति', बौद्व धर्म के विकास में डॉ० बी.आर. अम्बेडकर का योगदान, संगीता प्रकाशन, दिल्ली 2000
- मेश्राम, एल.जी., बौद्वमत डॉ० अम्बेडकर और सामाजिक लोकतन्त्र, संगीता प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली 1996
- मधु लिमयें, बाबा साहब अम्बेडकर एक चिंतन, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली, 1991
- नैमिशराय, मोहनदास, बाबा साहब और उनके संस्मरण, संगीता प्रकाशन विश्वास नगर नई दिल्ली–1996
- नीलकांत, जाति, पंरपरा और इतिहास, हाथ प्रकाशन, कर्नलगंज, इलाहाबाद, 1999
- पानतावणे, गंगाधर, पत्रकार डॉ० अम्बेडकर, अभिजीत प्रकाशन, नागपुर–22–1987
- पंत शिवनरायण, भगवान बुद्व चित्रमय जीवनी, महर्षि प्रकाशन संस्थान, दिल्ली 2005
- पांमर एण्ड पर्किन्स, अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध, साइंटीफिक बुक एजेन्सी, कलकत्ता, 1951
- प्रेम प्रकाश, अम्बेडकर पॉलिटिक्स एण्ड शिडियूल्ड कास्ट, आशीष पब्लिशिंग हाउस, न्यू देलही, 1993
- रसिक, बिहारी मंजुल, संघ सेन सिंह, अम्बेडकर : अग्निश्रमण, पारमिता प्रकाशन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1992

- रसिक, बिहारी मंजुल, संघ सेन सिंह, अम्बेडकर : अग्निकिरण, पारमिता प्रकाशन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–1991
- राय हिमांशु, युगपुरुष बाबा साहब डॉ० अम्बेडकर, समता प्रकाशन शाहदरा, नई दिल्ली 1997
- रुस्तोगी, उर्मिल, वेद तथा पर्यावरण जे.पी. पब्लिशिंग हाउस , दिल्ली, 1996
- सक्सेना, आर. एन., भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थायें।
- सिंह, रघुवीर, डॉ० अम्बेडकर और दलित चेतना, कामना प्रकाशन, दिल्ली, 1999
- सिंह, रेणुका, शुद्ध मन की ओर, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2000
- एस0 मूर्ति, सामाजिक दर्शन, (बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर के चार सामाजिक क्रांन्तिकारी का अविकल अनुवाद) कल्चरल पब्लिशर्स, अमीनाबाद लखनऊ–1989
- सत्यप्रेमी, पुरुषोत्तम, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, समता प्रकाशन नई दिल्ली, 1997
- शास्त्री, सोहनलाल, बाबासाहब, बी.आर. अम्बेडकर के संपर्क में पच्चीस वर्ष, सिद्धार्थ साहित्य सदन, साउथ पटेल नगर, नई दिल्ली 1975
- शुक्ल, दशरथ नारायण, भारत के महान प्रेरणा स्रोत, शिवम प्रकाशन, इलाहाबाद–1997
- शहारे, म. ला., नलिनी अनिल, डॉ० बाबा साहेब अम्बेडकर के तीन गुरु महात्मा बुद्ध, महात्मा कबीर, एवं महात्मा फूले, संग्मेंट बुक्स, कैलाश कालोनी, नई दिल्ली 1994

- शास्त्री, शंकरानन्द, युगपुरुष बाबा साहेब डॉ० भीमराव अम्बेडकर (जीवन संघर्ष एवं राष्ट्र सेवायें) अमृत बुक कम्पनी, कनाट सर्कल, नई दिल्ली, 1990
- त्रिपाठी सत्येन्द्र, द्विवेदी कृष्ण दत्त, भारतीय राष्ट्रवाद स्वरुप और विकास, विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, 1990
- वर्मा, ओम प्रकाश, आधुनिक भारतीय समाज की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली 1998
- Jatava Dr DR-BR AMBEDKAR -A VISION of MAN AND MORALS A.B.D. Publishers Jaipur INDIA 1999
- Johari, J.C, Indian Government and Politics,Vishal Prakashan, New Delhi-1976
- Kaushik, P.D., The Congress Ideology and Programme, 1920-85,Gitangali Publishing House, New Delhi-1986
- Mathew Thomas Ambedkar Reform or Revolution SEGMENT Books NEW DELHI-1991
- Purohit B.R., Hindu Revivalisin and Indian Nau-ionalism; Sahi Prakashan. Sagar.
- Vasant-Moon; Dr. BABA SAHEB AMBEDKAR WRIT-INGS AND SPEECHES VOL (1-9Vol) Educauion Depar ment Govenmem- of MAHARASHTRA -1990

लेख

- अमर, रामसुजान, दलित चिन्तन की खोज, दैनिक जागरण, 24 नवम्बर 2006
- एस. शंकर, अम्बेडकर की विरासत, दैनिक जागरण, 07 दिसम्बर 2006
- सिंह, आर. विक्रम, दलित चिन्तन के सूत्र, दैनिक आज, 06 दिसम्बर 2006
- विवेक कुमार, अम्बेडकर का राष्ट्र चिन्तन, दैनिक जागरण, 06 दिसम्बर 2006
- महेशंकर शोभा, अछूतों के मसीहा ही डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, नवभारत टाइम्स, 14 अप्रैल 2006
- उदितराज, सिर्फ दलितों के हितैषी नहीं है अम्बेडकर, अमर उजाला, 14 अप्रैल 2006

पत्रिकायें

- Indian Fournal of Political Science
- Frontline
- समाज कल्याण
- अम्बेडकर टुडे
- इण्डिया टुडे
- आउट लुक

समाचार पत्र

- अमर उजाला, कानपुर
- हिन्दुस्तान, लखनऊ
- टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली
- जनसत्ता, नई दिल्ली
- दैनिक जागरण, कानपुर
- दैनिक आज, कानपुर
- स्वतन्त्र भारत, कानपुर

****